प्रिया

ग्रीष्म

दीप्ति खण्डेलवाल

'लहरें ही गिनती रहोगी…?'

ध्यानमग्न प्रिया चौंक गई। देखा, तालाब के दर्पण-से पारदर्शी जल में एक बिम्ब और उभर आया था—मनमिज का।

प्रिया हंसी, 'यहां लहरें हैं ही कहां जो गिनूं ? तुम फिर गलती कर गए मन !'

मनमिज भी हंस पड़ा। उसकी गूंजती-सी हंसी, उस एकान्त में प्रिया की मन्द-स्वरों में बजी वंशी-सी हंसी के साथ मिलकर एकात्म हो गई…। प्रिया ने स्वयं के और मनमिज के उन गूंजते एकात्म स्वरों को सुना। लगा, जैसे समय के यन्त्र-चालित से कदम कुछ क्षण के लिए ठिठक गए हों—मुग्ध होकर !

'भई, हम तुम जैसे यहां जो गलती न करें ! हम तो दस में ग्यारह गलतियां ही करते हैं…' मनमिज प्रिया के पार्श्व में बैठ गया था। वह हंसी व्यंग्य बन गई थी। समय अपनी यान्त्रिक गति से फिर चलने लगा था।

सचमुच ही तो तालाब का पानी शान्त था। प्रिया देर से किनारे बैठी कभी-कभी पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े उठाकर उस शान्त पानी में फेंकती रही थी। पत्थर शान्त पानी में गिरता, हलचल का एक आवर्त्त बनता, पत्थर डूब जाता, पानी शान्त हो जाता। शहर से कुछ दूर का वह निर्जन एकान्त, यह शान्त तालाब और यहां का निस्तब्ध-सा वातावरण, जाने क्यों प्रिया को यहां बार-बार खींच लाता।

'न, दस में ग्यारह नहीं, दस में केवल पांच गलतियां करते हो, जैसे अभी कह रहे थे न कि 'लहरें ही गिनती रहोगी'…इस तालाब में लहरें हैं ही कहां, जो गिनूं…?' प्रिया ने फिर एक बार पत्थर का टुकड़ा उठाकर तालाब में फेंका। क्षण-भर को पानी में हलचल का एक आवर्त्त बना, पानी फिर शान्त हो गया। प्रिया के मन में भी तो हलचल के ऐसे आवर्त्त बनते हैं, शान्त हो जाते हैं…पत्थर के टुकड़े जिन्दगी फेंका ही करती है।

'तो क्या मछलियां गिन रही थीं ? मछलियां तो हैं न इस तालाब में…? वो देखो, वो तुम्हारी 'पेट' मछली, जो तुम्हारी ही तरह सुनहरी है।'

मनसिज प्रिया को एकटक देखने लगा था।

'हां, मछलियां तो इतनी हैं इस तालाब में कि गिनती ही समाप्त हो जाती है...। अच्छा मन ! कैसा लगता है तुम्हें यह छोटा-सा तालाब, इसका नीला पानी ! बिलकुल शान्त...जैसे आकाश का एक नीला टुकड़ा ही धरती पर जड़ गया हो...। देखो न, इस सांझ का पहला सितारा भी इसमें झिलमिलाने लगा है...।' प्रिया ने इंगित किया, तालाब के पारदर्शी जल में वह सितारा झिलमिला रहा था।

'अरे बाबा...फिर कविता। आकाश धरती पर कभी नहीं उतरता...हां, चांद कभी-कभी उतर आता है, दिखाऊं तुम्हें?' मनसिज की एकटक देखती आंखों में उन्माद उभर आया। उसने प्रिया को बांह से घेरकर निकट खींचा, चिबुक पकड़ कर प्रिया का मुख अपनी ओर किया,...छूटने का प्रयास करती प्रिया को बलपूर्वक थामकर उसके होठों पर झुक गया...

'थैंक्स...' कहते मनसिज ने प्रिया को मुक्त कर दिया...'आई एम सॉरी...लेकिन तुम भी तो ऐसी हो कि मैं स्वयं पर काबू नहीं रख पाता...' मनसिज के स्वर में कंपन था।

प्रिया की आंखों में नमी झिलमिला आई, 'नहीं, यह कोई गलती नहीं मनसिज, यह तो...तुम्हारा प्यार है...! इस प्यार को लेकर तुम नहीं, गलत शायद मैं हूं।'

'अच्छा चलो, गलत-सही का फैसला करने के लिए अभी काफी ज़िन्दगी बाकी है। इस समय तो कॉफी-हाउस चलें, एक-एक प्याला कॉफी...शायद तुम गर्म हो जाओ।' मनसिज की आंखों में अभी भी उन्माद था।

'थोड़ी देर और रुको मन...दिन को डूब जाने दो...देखो, दिन के सुनहरे रंग इस तालाब के पानी में कैसे डूबे जा रहे हैं...। धीरे-धीरे सारे रंग डूब जायेंगे, और पानी भी रात की स्याही-जैसा काला पड़ जायगा...'

'यह तो रोज होता है...होता रहेगा...दैट इज़ नेचर्स वे, तुम...खामखा ज़रा-ज़रा सी बात को लेकर 'सेंटीमेंटल' होने लगती हो।'

'और...अभी तुम क्या हो उठे थे?' प्रिया किंचित् शरारत से हंसी। पल-भर की उस नटखट हंसी में, जैसे सांझ के सुनहरे रंग प्रिया के मुख पर प्रतिबिम्बित हो उठे।

'वह तो जीवन का एकमात्र सत्य है देवी जी...।' मनसिज ने हाथ उठा कर 'तथास्तु' की मुद्रा में कहा। आंखें मूंद लीं, शायद वह उस उन्माद को

छिपा लेना चाहता था…शायद वह प्रिया के मुख के मोहक रंगों को और नहीं देखना चाहता था…कि होश खो बैठे।

'चलो, तो तुमने तो जीवन का एकमात्र सत्य पा लिया…मुझे अपने झूठ में ही रहने दो…।' हंसती प्रिया फिर उदास हो गई। सांझ के सुनहरे रंग, रात के घिरते अंधेरे में डूबने लगे थे।…नीला आसमान काला पड़ने लगा था…और वह सब कुछ भी उस तालाब में बिम्बित-प्रतिबिम्बित हो रहा था…प्रिया के मुख पर भी।

'अच्छा बाबा, नाउ नो फिलॉसफी…इस वक्त की एकमात्र फिलॉसफी है एक-एक प्याला कॉफी…' चलो, चलो उठो…' मनसिज ने प्रिया को घेरकर खड़ा कर दिया…बाहों में घेरे हंसा—'इस तालाब में जब मछलियां गिनती हो न, तो दो और जोड़ दिया करो…इन्हें भी!' मनसिज ने प्रिया की मुंदी आंखों पर तर्जनी छुआ दी…'समझीं! इन दो को और जोड़ दिया करो…और अगर इनकी गिनती न आती हो तो मुझसे सीख लेना।'

प्रिया ने मुंदी पलकें खोल दीं। एक भरपूर दृष्टि से मनसिज को देखा, देखती रही, 'इन आंखों की मछलियों को तो रेत के सागर ही मिले हैं, मन!…लेकिन तुम नहीं समझोगे।'

मनसिज की बाईं बाह से घिरी प्रिया धीरे-धीरे चलने लगी थी।

अंधेरा घिर आया था, लेकिन इतना नहीं कि कुछ दिखाई न दे। बिलकुल सांझ और रात की सन्धि-वेला थी। स्याह पड़ते आकाश में अनेक सितारे झिलमिला उठे थे। प्रिया को बांह से घेरे मनसिज चल रहा था, प्रिया बांह से घिरी-सी। लेकिन मनसिज को लग रहा था, वह कभी प्रिया को घेर नहीं पायेगा। जाने कैसी पहेली-सी है यह प्रिया…! एक रिक्तता, एक पहेली…बहुत—कुछ और कुछ भी नहीं…जाने क्या है प्रिया…!

सहमा प्रिया रुक गई, 'अच्छा मन! एक बात सच-सच बताओ, तुम मुझे क्या समझते हो…?'

मनसिज ने एक जोरदार ठहाका लगाया, 'माई गुडनेस! अभी तक तुम यही नहीं समझ पाईं कि मैं तुम्हें क्या समझता हूं…!'

'यह मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है।' प्रिया अपलक क्षितिज को देखने लगी थी, 'अच्छा बताओ, तुम नारी को क्या समझते हो…?'

मनसिज ने प्रिया को घुमाकर अपनी ओर कर लिया, 'उधर नहीं, इधर देखो और सुनो, डाक्टर मनसिज चौधरी को नारी की 'एनॉटमी' का

इतना ज्ञान है कि तुम उसे 'वीमेन स्पेशलिस्ट' कह सकती हो। जानती हो, 'युटरस' का ऑपरेशन कितना मुश्किल होता है। मैडीकल के ऐक्जाम में मेरे हिस्से यही ऑपरेशन आया था'''मेरा साथी तो बेहोश होते-होते बचा'''मनसिज चौधरी डिस्टिंक्शन ले आये। लेकिन वाकई भई, नारी की 'एनॉटमी' है बड़ी मुश्किल चीज। पेट, जिगर, तिल्ली, आंतें और इन सबके बीच बच्चेदानी, यानी कि बच्चे ढालने की मशीन'''यह सारा संसार उसी मशीन की करामात है। बाप रे! मानता हूं तुम लोगों में गजब की बर्दाश्त होती है। यदि किसी मर्द को एक बार बच्चा हो जाये तो''''''।' मनसिज ने अपने कान पकड़ लिये। वह चाह रहा था कि प्रिया हंसे''' प्रिया की उदासी को झेलना उसके लिए कठिन हो जाता था।

मनसिज की आंखों में, उन्हीं अपलक आंखों से देखती प्रिया, गम्भीर थी'''शायद मनसिज की आंखों में भी वह क्षितिज ही देख रही थी'''तुम कभी सीरियस नहीं होते मन! बात को हमेशा मजाक में उड़ा देते हो। मैंने तुमसे नारी की 'एनॉटमी' पूछी थी!'

'अच्छा बाबा, तो डाक्टर की भाषा में नहीं, कवि की भाषा में सुनो—नारी वह होती है, जो तुम हो, यानी कि 'प्रिया'''' जिसे प्यार किया जाता है, जिस पर जिया और मरा जाता है'''जिसके बिना जिन्दगी अधूरी होती है''' जैसे एक चांद के बिना तारों-भरा आकाश भी सूना होता है''' जैसे तुम्हारे बिना मैं हूं!''''' मनसिज का खरखरा स्वर भी मृदु-सा हो उठा।

'क्यों? तुम्हारे जीवन में नारी की कमी कहां रही है? तुम स्वयं 'एडमिट' कर चुके हो—नीलिमा दास, शोभा वर्मा, अनुराधा गोयल''' और भी कोई रही हो तो क्या पता?' प्रिया वैसी ही गम्भीर थी—जड़ हुई जाती-सी।

मनसिज सहसा गम्भीर हो उठा, आहत-सा, 'हां प्रिया, और भी कोई रही हो तो क्या पता'''? एक बार का चोर, चोर मान ही लिया जाता है'''चाहे फिर वह सारा भला बने। तुमसे मैंने जो 'एडमिट' किया है,—मेरा सच या झूठ, तुम जो भी मानो उसे, उतना ही है। जबसे तुम्हें देखा है या जबसे तुम मनसिज के जीवन में आई हो'''तब से भौंरे-सा उड़ता-फिरता मनसिज परवाना बनना चाहने लगा है। लेकिन शायद तुम विश्वास नहीं कर सकोगी, करोगी भी कैसे'''? मनसिज अभी तुम्हारे निकट आ ही कहां सका? वैसे, हम दो वर्षों से करीब हैं'''। अब, जैसे इस क्षण भी मैं तुम्हें घेरे खड़ा हूं,

पर तुम हो कि किसी भी घेरे में नहीं घिरतीं, कम से कम मेरी बांहों के घेरे में तो नहीं। मनसिज चौधरी का सारा दंभ तुम्हारे सामने हार जाता है, वही मनसिज चौधरी जिसे अभी भी सब 'लेडी-किलर' कहते हैं'''।' मनसिज भी प्रिया के परे देखने लगा था...शायद क्षितिज को ही।

'तुम तो बुरा मान गए, आई एम सॉरी'''।' प्रिया ने मनसिज के कन्धों पर हाथ रख दिये, मुसकराई, एक तरल मुसकान, जैसे पत्थर की प्रतिमा सजीव हो उठी हो। जड़ हुए जाते क्षण स्पन्दित हो उठे।

'प्रिया, क्या तुम ऐसी ही मुसकराती नहीं रह सकतीं'''?' मनसिज ने आलिंगन कस लिया। प्रिया ने उसके वक्ष पर सिर टेकते कहा, 'अब चलो, अंधेरा घिर आया है'''फिर बहुत देर हो जाएगी।'

मनसिज ने चाहा, वह प्रिया को आलिंगन-मुक्त न करे और थम ले। उन स्पन्दित हो उठे क्षणों से कहे – 'ज़रा तो और रुक जाओ''' यानी कि प्रिया से कहे...'ज़रा तो ठहर जाओ।''''किन्तु कह नहीं सका, कदम से कदम मिलाते वे चलने लगे थे'''उनके कदमों के नीचे धरती पर बिछे सूखे पत्ते कुछ आवाज़ कर रहे थे। उनकी सांसें भी कुछ तेज़ थीं, किन्तु होंठ निश्शब्द, और अंधेरा काफी घना हो आया था।

वे सड़क तक पहुंचे ही थे कि सुना, 'दिदिया हो! हम इहां हन'''ई पीपल के नीचे।'

प्रिया चौंककर मनसिज से सट गई, डर गई थी। मनसिज बाहू कसते, प्रिया को सटाते हंसा...'डर गईं'''! अरे, वही कम्बख्त अपना साला है, तुम्हारा भाई बिरजू।'

प्रिया ने गहरी सांस ली, 'ओह! मैं तो सचमुच डर गई थी। इस बिरजू को कभी अक्ल नहीं आयेगी'''अब देखो, कैसा चिल्लाया है कि'''।'

मनसिज हंसा, 'भगवान करे, इसे कभी अक्ल न आये, तुम ऐसे ही डरा करो'''कि बन्दे को कोई मौका तो मिले'''। मनसिज ने आलिंगन और कस लिया था।

प्रिया खिलखिला उठी, 'यू नॉटी''' चलो, छोड़ो मुझे, आज कितनी देर हो गई, अब जल्दी चलो।' मनसिज के आलिंगन से मुक्त होती प्रिया जल्दी-जल्दी चलने लगी थी।

वे बिरजू के रिक्शे तक पहुंचे...'अबे ओ साले! यहां क्या खड़ा है पीपल के पेड़ के नीचे, भूत की तरह?' मनसिज ने क्रोध का नाटक किया।

'अच्छा, डागदरवावू साथ हन ! तवहीं, हम कहा, आज दिदिया आई नाहीं कि आय कर लौट गई'''जो इत्ती देर होय गई कि हमने पूरी पांच वीड़ी फूंक डारीं।' विरजू अधजली वीड़ी फेंककर पांव से मसलने लगा था।

'अवे तो, पांचवीं भी पूरी पी लेता'''हम दो मिनट ठहर जाते।' मन-सिज डांटता-सा हंस रहा था।

'अरे नाहीं वावू, दीदी की खातिर का हम आधी वीड़ी भी नाहीं फेंक सकत'''अरे, हम तो ई दिदिया की खातिर परान दे सकत हैं। अच्छा, चलो अव, दुइनो वैठ जाई'''कितने दिन वाद आपका साथ-साथ देख रहे हैं''' नाहीं तो, दिदिया अकेली ही आवत रहीं।' विरजू ने रिक्शे की सीट अपने गमछे से पोंछी—'अव वैठो ना दिदिया'''रिक्शे का टाप चढ़ाई कि खुला रहे दें ?' विरजू ने गमछा सिर पर लपेट लिया, कान ढंक लिये। वदन पर एक मैला कुरता था, एक नेकर। हवा ठंडी हो उठी थी।

मनसिज ने कोट का कॉलर ऊंचा किया। प्रिया शाल लपेटे थी। सोच रही थी, यह विरजू भी वस'''कुछ भी दूं, तो लेगा नहीं...और लेगा भी तो सिनेमा देख आयेगा'''जाने इसे सिनेमा का क्या चस्का है कि वस चले तो एक दिन में तीन शो देख डाले'''पिछले साल स्वेटर दिया भी था तो जाने किसे दे आया'''डांटा तो कहने लगा—दीदी, अभी तो हम जवान हन, जिसे दिया ऊ बुढवा रहा'''ससुरे के दांत ऐसे वज रहे थे किट्'''किट्''' किट् कि हमका तो हंसी आ गई'''हंसते-हंसते वेहाल होय गये'''ऊ का कहत हैं, जैसे कोई किट्-किट् तरंग वाजा वज रहा होय'''किट्-किट्-किट्'''ताल-सुर में।'

'तो तू उसका वाजा वन्द करने स्वेटर दे आया ?' प्रिया ने नकली क्रो से कहा, मन आर्द्र हो उठा था''' 'यह विरजू भी पूरा पागल है।' कहते प्रिया रिक्शे पर वैठ गई।

'टॉप आज खुला रहेगा'''आज हम ऐसे ही जायेंगे।' मनसिज ने रि पर चढ़ते सख्ती से कहा।

'नहीं, विरजू, कुछ देर खुला रहने दो, वस्ती शुरू होने पर चढ़ा देना' प्रिया ने आज्ञा के स्वर में कहा।

'नहीं विरजू, आज टॉप नहीं चढ़ाया जायेगा'''हम ऐसे ही जायेंगे शहर के वीच में'''!' मनसिज उत्तेजित हो उठा।

प्रिया ने मनसिज की सारी शरारत सुन ली थी—'अगर बिरजू मेरा भाई है तो ये बैरा शायद तुम्हारा···क्यों ?' प्रिया की आंखों में भी शरारत, होंठों पर मुसकान उभर आई। प्रिया की ऐसी मुसकान कितनी मासूम, कितनी अछूती होती है कि बस···देखते रहने को जी चाहता है···। इसे छूते भी डर लगता है कि कहीं कोई दाग न लग जाय···कहीं इस फूल की पंखुड़ियां बिखर न जायं··· सोचता मनसिज प्रिया को निर्निमेष देख रहा था।

'बस, ऐसे ही हंसती रहो न···कुछ देर प्लीज़ !' मनसिज की आंखों में सम्मोहन मुग्ध हो उठा था···और, प्रिया के गुलाबी अधरों पर उन क्षणों सचमुच एक मोहक हंसी थी···!

…। वह नन्हें हाथों से मां के आंसू पोंछती—'मां, क्या कहीं दरद हो रहा :, पेट में, सिर में ? तो कोई दवा खा लो न, रोओ मत मां, रोओ नहीं… हीं तो मैं भी रोने लगूंगी…।' और मां, सचमुच चुप हो जातीं। उसे वक्ष से कसकर चिपका लेतीं, कहतीं—'अच्छा ले। नहीं रोती…अब तू सो जा…' फिर प्रिया को चूमने लगतीं, बार-बार। प्रिया आश्वस्त होकर सो जाती…किन्तु ऐसी जाने कितनी रातें दुहराई जाती रही थीं…। प्रिया के अबोध मन पर मां की गुलमोहर-सी रक्तिम हो उठीं आंखों की वह छाप गहरी अंकित होकर रह गई थीं। अब मां बाबा की कोठरी में सोती हैं, प्रिया अपनी कोठरी में अकेली…और कभी-कभी जाने क्या होता है कि सवेरे प्रिया की आंखों के कमल लाल होते हैं, मां की आंखों में गुलमोहर फूला होता है—एक साथ।

ऐसे में, मां-बेटी एक-दूसरी से आंखें नहीं मिलातीं। मां जल्दी-जल्दी घर के काम निपटाती होती हैं, प्रिया देर तक स्नान-गृह में घुसी रहती है। शायद बाबा भी ऐसे में कुछ समझ जाते हैं, आवाज देते हैं—'अरे बेटी और ओ मेरी बेटी की बेटी ! क्या आज इस अपाहिज बुड्ढे की तरफ झांकोगी भी नहीं…' और फिर अलापने लगते हैं—'नन्दक नन्द कदम्बक तरु तर धीरे-धीरे मुरली बजाव…' भैरवी के उल्लसित स्वरों से मां-बेटी का विषाद हलका हो जाता…प्रिया गीले केशों से पानी टपकाती आकर बाबा से लिपट जाती और सुर में सुर मिलाकर गाने लगती—'समय संकेत निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव…'

बाबा प्रिया की पीठ थपकते—'कैसा मीठा कंठ है मेरी प्रिया बेटी का, कि लगता है देवी भैरवी स्वयं गा रही है…।' फिर छेड़ते—'हे मृगेक्षिणी, शरद-चांदनी, हे प्रियदर्शिनी प्रिया, कहो।…आप अपने बाबा को कितना विरह दोगी, अर्थात् कब जाओगी, कब आओगी…?

प्रिया नाना को बाबा कहती थी। प्रिया और बाबा के बीच सांकेतिक भाषा चलती थी…अर्थात् 'बाबा क्या पूछ रहे हैं 'शब्दों' में, और उसका क्या अर्थ होता है 'अर्थों' में, यह प्रिया ही समझ पाती थी। मां सौदामिनी तो माथे पर हाथ ठोंककर हंस पड़तीं—'जाने ये नाना-नातिन क्या बतियाते हैं कि मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता।'

'आयेगा भी नहीं,…आ भी कैसे सकता है ? सौदामिनी रवि ठाकुर की बेटी है, प्रिया रवि ठाकुर की नातिन। प्रिया तक पहुंचते-पहुंचते रवि ठाकुर

कि अकल दुगुनी जो हो गई है'''।'

'हां-हां, क्यों नहीं।' सौदामिनी हंसती, एक व्यथा-सिक्त हंसी। प्रिया उस हंसी को साफ-साफ पढ़ लेती। कहना चाहती—'ऐसे मत हंसा करो मां'''' किन्तु कह नहीं पाती थी। बस, वह व्यथा-सिक्त हंसी हंसती मां को देखती तो देर तक याद आया करता''''रोओ मत मां, नहीं तो मैं भी रोने लगूंगी''' दरद है सिर में, पेट में, तो दवा खा लो'''।'

अब प्रिया मां का सारा दर्द समझ चुकी है। मां का दर्द शायद बेटी के भी पोर-पोर में उतर आया है'''। यद्यपि अब वे रात को अलग-अलग सोती हैं'''दिन में अपने-अपने कामों में अलग-अलग व्यस्त होती हैं, फिर भी दिन में, रात में, जाने कितनी बार मां का मुख, मां का वह चिर-परिचित मुख प्रिया की आंखों में कौंध-कौंध जाता है। कभी-कभी इस 'कौंध' में कोई 'दंश' इतना प्रबल हो उठता है कि छटपटाकर प्रिया फोन करती—'मां, ठीक तो हो?'

उत्तर मिलता—'अरे पगली! मुझे क्या हुआ है या होना है'''तू बेकार ही अपना माथा खराब किया करती है'''अब देख, खामखा पैंतीस पैसे बरबाद कर दिये फोन में, इतने में तो तू रिक्शे से घर आ सकती थी''' जो थकी-हारी पैदल आती है'''अच्छा बता, आज क्या बनाकर रखूं तेरे लिए'''? अच्छा तू तो बताएगी नहीं, मटर लेती आऊंगी, सस्ते मिलने लगे हैं, मटर-भात खाओगी न।'

और प्रिया चुपचाप फोन रख देती है। जानती है, आज मां पहला कौर उसे अपने हाथ से खिलायेगी, फिर कहेगी—'प्रिया बेटी, आज सचमुच मेरा जी ठीक नहीं है, आज मैं खाना न खाऊं तो तू कुछ और तो नहीं समझेगी''' आज स्कूल में सबके साथ खूब अनाप-शनाप खा लिया था, तबियत बिगड़ गई।'

ऐसे में प्रिया पकवान की तारीफ करती, कौर गले से उतारती होती है'''कौर गले में फंसते होते हैं'''वह बार-बार पानी के घूंट भरती—'शायद आज तेरा भी जी ठीक नहीं''' कहती सौदामिनी आंखें फेरकर उठ जाती हैं।

'न मां, मैं तो बिलकुल ठीक हूं।' कहती प्रिया भी आठ बजे रात से ही कोठरी का दरवाजा बन्द कर लेती है। अन्तर्यामी बाबा जाने कैसे सारा सदृश्य देख लेते हैं'''जाने कैसे! प्रिया पाती है कि ऐसी नीरव, सन्नाटी

भरी रात में बावा की दबी कराह बार-बार उभरती है···और हर कराह के साथ कोई गुनगुनाहट—'विहरति हरिरिह सरस वसन्ते···'

ये बाबा सचमुच अजीब हैं—एक पहेली जैसे। तबियत ज्यादा खराब होगी, तो कराह को दबाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से गाने लगेंगे···बाबा ज़ोर-ज़ोर से गा रहे हैं—इसका अर्थ है कि उन्हें पीड़ा अधिक हो रही है···पीड़ा कम होती है या कभी-कभी शान्त होती है, तब वे सचमुच बड़ा मीठा गाते हैं—कभी रवीन्द्र संगीत, कभी विद्यापति, कभी चंडीदास। साधारण बात भी करेंगे तो तुकें जोड़ते हुए···कभी-कभी तो बाबा की बेतुकी तुकों पर प्रिया हंसते-हंसते लोट जाती है, जैसे उस दिन कह रहे थे—

'मत समझो ओ बिटिया मेरी,
कि मैं हो चुका बुड्ढा या लाचार।
दाहिना हाथ बेकार सही, पर बाएं से
अब भी जड़ सकता हूं थप्पड़ दो-चार।'

एक दिन प्रिया बाबा के उसी लाचार दाहिने हाथ में दवा मल रही थी, 'साइटिका' के दर्द से वे तड़प रहे थे, आह को दबाये हंस रहे थे, प्रिया को हंसा रहे थे···और ओंठ कसे, दवा मलती प्रिया देख रही थी—बाबा के हंसने का प्रयास करते होंठ व्यथा से टेढ़े हुए जा रहे थे···। 'बाबा, दवा तो लगा दी, पानी गरम कर लाती हूं थैली में, सेंक लेना तो दर्द कम हो जायगा···' कहती प्रिया फिर दौड़कर स्नान-गृह में घुस गई थी, बाबा के लिए गर्म पानी लाने नहीं, अपनी आंखों को ठण्डे पानी के छींटे देने···बाबा को ऐसे क्षणों में देखती प्रिया को लगता रहा है—वह होश खो देगी।



हां, तो प्रिया उस रात घर पहुंची तो नौ बज चुके थे। मां प्रतीक्षा में, बिना खाये सो गई थी···प्रिया ने दरवाज़ा खटखटाया तो मां नींद के नशे में आई, लड़खड़ाती-सी, दरवाजा खोला और बिना कुछ बोले लौटकर सो गई। प्रिया अपराधिनी-सी हो उठी। धीरे से जाकर बाबा की खाट पर बैठ गई—'मां नाराज हैं बाबा?'

बाबा हंसे—'नहीं री, नाराज नहीं, चिन्तित हो उठती है तेरी मां, यानी कि तेरे नाना की बेटी···आखिर तो वह तेरी मां और मेरी ही बेटी

है···आज सचमुच इतनी देर कहां कर दी···मैं भी डर गया था।'

प्रिया ने चाहा, कह दे, सहेली के साथ सिनेमा देखने चली गई थी··· लेकिन झूठ कहा नहीं गया, धीरे से आंखें झुकाकर बोली, 'मनसिज के साथ गई थी।'

बाबा ने प्रिया की झुकी पलकों को ध्यान से देखा, बोले, 'ज़रा मेरा चश्मा तो दे। हे मृगेक्षिणी, शरद्-चन्द्रवदनी, हे प्रियदर्शिनी प्रिया, ज़रा चश्मा तो दे।' दाएं-बाएं प्रिया ने पलकें झुकाये ही चश्मा बढ़ा दिया। बाबा ने चश्मा लगाया, आंखों को घुमाया—'इधर, ज़रा इधर तो आ बेटी, ज़रा ठीक से देखूं तो तुझे।'

प्रिया बाबा के निकट सरक आई—'क्यों, क्या अबतक मुझे देखा नहीं था, बाबा?' प्रिया की पलकें और झुक गईं।

'श···चुप, धीरे से···नहीं तो मेरी बेटी, यानी कि तेरी माँ नाना-नातिन का सारा भेद सुन लेगी···। मनसिज के साथ थी? डॉक्टर मनसिज चौधरी के साथ? सच···। मनसिज बड़ा अच्छा लड़का है न बेटी?' बाबा का कंठ उच्छ्वसित हो उठा था,'···'हे अन्तर्यामी···।' बाबा ने हाथ जोड़कर आंखें मूंद ली। कुछ क्षण चुपचाप बीते, बाबा ने आंखें खोली तो देखा—प्रिया ने हथेलियों से अपना मुख ढंक लिया है···और उसकी देह कांप-सी रही है··· जैसे, कोई फूलों-भरी डाल कांपती है—बहुत धीरे, बहुत चुपचाप।

'हाथ हटा बेटी···। जानती है तेरा नाना अन्तर्यामी है···। आ, इधर आ शरमा मत, अपना माथा झुका कि इस बाद से माथे को चूमकर तुझे आशीर्वाद दूं···हाथ हटा, हटा न, शरमा मत!' बाबा के धीमे स्वर में उच्छ्वसित उल्लास था···ऐसा उच्छ्वसित स्वर बाबा का कभी नहीं सुना प्रिया ने। किन्तु प्रिया ने हाथ नहीं हटाये, उसकी देह का कंपन बढ़ गया था। सहसा वह झुकी और बाबा के वक्ष पर सिर टेक दिया। मुख पर से हाथ हटा लिये। वह मुख आंसुओं से भीग गया था। झर्-झर्-झर्—उन आंखों से आंसू झरे जा रहे थे। अरे प्रिया, तेरे इन गालों पर तो गुलाल बिखरना चाहिए···और तू इन्हें आंसुओं से धो रही है···। न, न···बेटी, रो मत···' सिसक उठे बाबा ने प्रिया को बाएं हाथ से भींच लिया। सौदामिनी चुपचाप पड़ी थीं··· सोती भी होतीं तो जाग जातीं···किन्तु वे सो कहां रही हैं···। प्रिया ने देखा, मां पत्थर-सी निश्चल पड़ी हैं···बाबा सिसक रहे हैं···और वह स्वयं··· जड़ता और तीव्र चेतना के बीच झूलती पागल हुई जा रही है···।

उठी, दौड़ती-सी जाकर अपनी खाट पर लोट गई ।···बाहर
गमक रही थी और जैसे हवा मुट्ठी भर-भरकर गमक को प्रिया
पास बिखेर रही थी···प्रिया झपटकर उठी, खिड़की बन्द कर दी ।
कोई तूफान नहीं था, आज रजनीगन्धा की महक असह्य हो उठी
···।

प्रिया ने चाहा कि वह और रोये, चीख-चीख कर आर्त्तनाद करे । बाहर
ई तूफान नहीं था, किन्तु प्रिया के भीतर प्रचंड झंझावात उठ आया था
···यदि, आज प्रिया के वक्ष में काली घटाओं से घुमड़ते मेघ जी भर बरस
ाते तो शायद उसके अन्तस् का आकाश शान्त हो जाता, चेतना की धरती
भी उस वर्षा में भीगकर चुप हो जाती···। कभी-कभी तूफान के प्रचंड नाद
के बाद कैसा अजीब मौन छा जाता है । मरघट में भी तो चिताओं के धधकने
के बाद राख शान्त हो जाती है । प्रिया ने बाबा के स्वर में वह मौन देखा
है, माँ की आंखों में वह ठंडी राख···। किन्तु···वह तो अभी झंझावातों को
झेल रही है, आंधियों में कंपित रजनीगन्धा की बेल-जैसी कांप रही है···
अपनी ही गमक उसके लिए असह्य हो उठी है···और जैसे हर जीवन की
परिणति मृत्यु होती है, उसकी भी चिता धधकेगी ही···राख होगी ही···।

बन्द खिड़की से सटी खड़ी प्रिया ने वक्ष पर हाथ बांध लिये थे । कस-
कर पलकें मूंद ली थीं । उसकी मुंदी पलकों में मनसिज के अनेक चित्र उभर
रहे थे, उभरे पड़ रहे थे । आज वह जैसे पलकें मूंदकर मनसिज को उन
पलकों की कैद में बन्दी कर लेना चाहती थी···आज ही तो उसने क्लास मे
कबीर का दोहा पढ़ाया था—

आजा मोरे प्रीतमा, पलक झांप तोहे लेउं ।
ना मैं देखूं और को, ना तोहे देखन देउं ॥

दोहे की व्याख्या करते-करते वह आत्म-विस्तृत-सी हो उठी थी—।
सट छात्राएं हंसने लगी थीं । प्रिया ने एक रिमार्क भी सुन लिया
शायद मैडम इसी दौर से गुजर रही हैं···। उसने कड़ी निगाहों से
को देखा था—'कुसुम, तुम बहुत बदतमीज हो गई हो ।'

कुसुम देशपांडे तपाक् से उठ खड़ी हुई—'यू आर राइट मैडम !
ऐसी बदतमीज तो हम सब हैं । फर्क केवल इतना है कि ये सब उ
कह नहीं पातीं, मैं कह देती हूं ···वैसे, शायद मैंने गलत तो
मैडम ।'

'मिट डाउन !' प्रिया चीखी। फिर प्रिया से पढ़ाया नहीं गया। उसने पन्द्रह मिनट पहले क्लास छोड़ दी। नटखट कुसुम का स्वर, कबीर के दोहे से एकात्म होता-सा उसके भीतर गूंजने लगा था...और वह कालेज से निकल कर उस तालाब के किनारे जा बैठी थी।

मनसिज...डॉक्टर मनसिज चौधरी...तीस वर्ष का सांवला, हंसमुख, जिन्दादिल तरुण। मनसिज सचमुच 'लेडी-किलर' था। जब वह प्रिया के साथ होता, तो प्रिया अनेक बार किसी आधुनिका का रिमार्क सुनती—'ओ, व्हाट ए हॉट गाई...जस्ट लाइक ए हीरो।' दूसरी ओर प्रिया अपने लिए आधुनिक तरुणों के यह रिमार्क भी सुनती—'ओ व्हाट ए ब्यूटी, बट ए मोनालिसा। ऑल कोल्ड!'

मनसिज दोनों प्रकार के रिमार्कों पर हंस पड़ता। प्रिया के लिए दोनों असह्य हो उठते थे।

'व्हाइ डू यू टेक देम सीरियसली?' मनसिज उसे निकट खींच लेता—'अरे यार! ये तो दुनिया है...दुनिया अपनी जगह...हम अपनी जगह। फॉरगेट इट।'

ठीक ही तो कहता है मनसिज। नश्वर जीवन स्वयं में भी इतना *गंभीर कहां होता है कि उसे इतनी गंभीरता से लिया जाय*...। न जाने किस शून्य से, किस शून्य की ओर एक मेला चल रहा है, चला जा रहा है। मेले में कितने मिलते हैं...बिछड़ जाते हैं...हां, कभी-कभी कुछ कदम अन्त तक साथ देते हैं। क्या मनसिज के कदम अन्त तक साथ देनेवाले होंगे? हो सकते हैं...या प्रिया तीसरी बार भी छली जायेगी...?

बाबा, प्रिया को खिझाने-से एक प्रसंग बार-बार सुनाते हैं—तू चार वर्ष की रही होगी...एक दिन दौड़ी-दौड़ी आई—'बाबा, हमको प्यार करो, मिट्ठी लो...मैंने तेरा भोला चेहरा चूम लिया...और प्यार करो बाबा, और...और...दस बार...तू दाएं-बाएं गाल आगे करती रही। तब तक तुझे दस से ज्यादा गिनती ही नहीं आती थी...नहीं तो शायद सौ पर रुकती। मैंने पूछा, क्या बात है री प्रिया...क्या किसी ने मारा है, कोई चोट लगी है तुझे?' तू बोली...'हां बाबा, दौड़ रही थी, गिर गई, देखो न यहां कित्ती चोट लगी है...बहुत दर्द हो रहा है। सचमुच तेरे दोनों घुटने फूट गए थे...खून छलक आया था। मैंने कहा—'तो पगली, चल दवा लगवा ले, तू मिट्ठी क्यों मांग रही है?...और जानती है, तूने क्या कहा—

'बाबा, तुम प्यार करते हो तो इत्ता अच्छा लगता है'''इत्ता अच्छा लगता है''' और तू आंखों में आंसू भरे मेरे गले से झूल गई थी, फिर बोली थी—'अपनी मुच्छी (मूंछें) कटवा दो बाबा, गड़ती हैं'''नहीं तो रोज दस बार मिट्ठी कैसे लोगे ?' मैंने दूसरे दिन सचमुच मूंछें कटवा लीं'''फिर तू रोज बिना भूले दस बार प्यार करवाती'''जब तक कि इतनी गिनती नहीं सीख गई कि खुद अपनी नादानी पर हंसने लगी।'

बाबा ने आज भी तो प्रिया का माथा चूमा था—केवल एक बार''' और प्रिया को लगा था, बाबा ने उसे सहस्रों चुम्बनों से स्नात कर दिया है'''। बाबा के ये चुम्बन ढाल बन गए हैं'''बरसते तीरों के बीच क्षत-विक्षत होती प्रिया, बाबा के वक्ष पर सिर टेक कर, जैसे किसी ढाल को पाकर सुरक्षित हो उठती है'''अन्यथा प्रिया को लगता है कि किन्हीं अदृश्य तीरों से बिंधती वह कैसे जी पायेगी'''! कहां से इतना 'जीवन' जुटा पायेगी कि अनेक 'मृत्यु' झेल सके'''?

मृत्यु'''? प्रिया अपने केवल पच्चीस वर्षों के अंगों को देखती है''' अभी इनमें भरपूर वसन्त है। फिर क्यों उसे अपने चारों ओर पतझर ही दिखाई देता है'''? पीले, झरते पत्ते'''उदास हवाएं'''धूल के बगूले''' अकेले खड़े रह गए ठूंठ'''।

मनसिज कई बार कह चुका है—'यदि तुम-जैसी खूबसूरत कोई और होती तो पूरी भीड़ को पागल बनाकर छोड़ देती'''लेकिन आप हैं कि खुद ही पागल हुई जा रही हैं। आखिर क्यों ?' मनसिज के इस व्यंग्य में एक अभ्यर्थना होती है, स्वीकार का एक आमन्त्रण भी। केवल कुछ देर के लिए प्रिया उस अभ्यर्थना से तन्मय हो उठती है, उस आमन्त्रण से पुलकित''''एक सिहरन उसकी शिराओं को झनझना जाती है'''लेकिन वह तन्मयता, वह सिहरन ठहर नहीं पाती'''जाने कैसा आलोड़न-सा उठता है कि वह सब उस आलोड़न की लहरों में तिनकों-सा बह जाता है'''

अब तो, कभी-कभी मनसिज भी उदास हो उठता है—'आखिर तुम चाहती क्या हो प्रिया ? क्या चाहती हो, बताओ न ! मुझ पर विश्वास नहीं होता या अपने पर या'''खैर, मैं 'प्रेम' शब्द का प्रयोग नहीं करूंगा''' जानता हूं, तुम्हें इस शब्द से 'एलर्जी' हो गई है।'

नाना, अपने जीवन की कथा प्रिया को बार-बार सुनाया करते···कथा प्रिया की उम्र और समझ के अनुसार टुकड़ों में सुनाई जाती रही थी···अब वे सारे टुकड़े जुड़कर एक सम्पूर्ण कथा के रूप में प्रिया के सन्मुख स्पष्ट हो उठे हैं···। प्रिया के बाबा रवि ठाकुर की कथा···वैसे तो हर जीवन एक कहानी ही होता है, कोई छोटी, कोई बड़ी—अधिकतर हर कहानी में 'ट्रेजेडी' के अंश ज्यादा होते हैं—'कामेडी' के कम···किन्तु कभी-कभी तो सारी कहानी एक व्यंग्य बनकर रह जाती है···मुस्कराने का प्रयास करते ओंठ विद्रूप में टेढ़े होकर रह जाते हैं।···नियति या स्थितियों की चोटें खाते, खूबसूरत चेहरे···बदसूरत हो जाते हैं—दागों या घावों से भरे।

प्रिया प्रायः सोचती है—बाबा, मां, चित्रा दीदी और वह स्वयं···फिर बाबा के नेपथ्य में नानी, मां के अप्रकट में उसके पिता···। चित्रा की आंखों के सपने, उसकी स्वयं की आंखों में बिम्बित-प्रतिबिम्बित पल-पल बदलते ये आंसू और मुस्कराहटों के रंग···सबको किसी तृप्ति की, किसी सुख की तलाश रहती रही है, रहती है, रहा करती है···किन्तु कदाचित् तृप्ति एक 'मरीचिका' है, सुख एक 'भ्रम'···कभी लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता, कभी कदम भटक जाते हैं···। कभी-कभी लक्ष्य भी स्पष्ट होता है, कदम भी नहीं भटकते··· फिर भी कामनाओं का क्षितिज, क्षितिज ही बना रहता है—निकट भी, दूर भी। मां मरीचिका के पीछे दौड़ी थी, चित्रा दीदी के कदम बहक गए, और उसे तो केवल क्षितिज मिला है···। प्रिया की, कान तक फैली आंखों में, जीवन आकाश के बदलते रंगों-सा प्रतिबिम्बित होता रहा है···किन्तु आकाश के सारे रंगों को छू-छूकर उचटती उसकी दृष्टि, क्षितिज पर ही केन्द्रित होकर रह जाती है···। प्रिया ने कभी सुनहली धूप को जीना चाहा था, कभी चांदनी को जीना चाहा था···कभी आकाश की विराटता को समेट कर पलकें मूंद लेनी चाही थीं···कभी पैरों-तले ही धरती का एक हरा-भरा टुकड़ा चाहा था, बिलकुल अपना···। किन्तु धूप, चांदनी, प्रकाश या धरती का एक हरा-भरा टुकड़ा, कुछ भी तो नहीं पा सकी वह। उसकी यह असमर्थता, उसकी विवशता है, उसका कोई दोष या उसकी नियति—पता नहीं. प्रिया

के चारों ओर घूमता यह चक्र क्या है···क्या है यह जीवन···जगत्···क्या है वह स्वयं ?

बाबा हर बार अपनी कहानी सुनाने के पहले कहते—'जानती है प्रिया, तेरी नानी कैसी थी···? बिलकुल तेरी-जैसी, ऐसी ही कान तक खिंची भोली मृगी-सी आंखें, ऐसे ही स्याह, रेशमी, कमर के नीचे तक झूलते केश, ऐसी ही निर्दोष मुसकान···। बस, तू गोरी है, तेरी नानी सांवली थी। ऐसा स्निग्ध सांवला मोहक रंग भी फिर नहीं देखा कि गोराई शरमा जाय। बात जरा उलटी थी—इस बार राधा काली थी, कृष्ण गोरे···अर्थात् तेरी नानी सांवली थी, मैं गोरा···बिलकुल झक्। उस पितृहीन बालक की मां पर पुत्र के गोरवर्ण होने का कलंक लगाया जाता—'जाने किसका पाप है···? यह लड़का इतना गोरा कैसे है। जब न इसकी मां इतनी गोरी है, न इसका बाप ही गोरा था। राम···राम। पता नहीं किस पाप की निशानी है ये···

'तो समझी बेटी, तेरे बाबा का पहला दोष था—उसका गोरा होना। उसके तन-जैसा ही पहले तो उसका मन भी बिलकुल उजला था, बेदाग··· फिर उसके मन पर दुनिया की, समाज की काली आंखों के दाग पड़ने लगे, चोटों के नीले निशान···। प्रिया देखती, उसके गोरवर्ण बूढ़े बाबा का झुर्रियों-भरा मुख आज भी इतना प्रियदर्शी है कि उस मुख को देखते ही रहने को जी चाहता है—कम से कम प्रिया का मन तो यह चाहता ही है···।

'धीरे-धीरे चौदह-पन्द्रह वर्ष के रविशंकर के मन पर चोटों के इतने निशान अंकित हो चुके थे कि उसका सारा मन ही, नीला नहीं काला पड़ गया था···शिवजी को नीलकंठ इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने विष को कंठ में ही झेल लिया था···वह विष उन्हें मार नहीं सका था, अर्थात् इस कल्पना में तथ्य केवल इतना है कि वे विष को आत्मसात् कर गए थे···विष उन्हें मृत्यु नहीं, अमरत्व दे गया था···। नाना कहते—लेकिन बेटी, वे देवता थे, देवों के देव—महादेव। साधारण आदमी जहर पियेगा या उसे पिलाया जायेगा, तो वह मरेगा ही···। तो शिवशंकर-जैसा ही गौरवर्ण रविशंकर अपने हिस्से का जहर पीता, मरने···लगा था। वह कोई देवता नहीं, केवल एक आदमी था न···। वह जीना चाहता था···इतनी बड़ी दुनिया को आंखें फाड़-फाड़कर देखता, वह जीने की कोई राह ढूंढ़ रहा था···किन्तु उसने जबसे होश संभाला, उसे यही लगता रहा वह किसी चक्रव्यूह में फंस गया है···आ तो गया है, निकल नहीं पायेगा···और अभिमन्यु-सा वह जानकर स्वयं आया

भी वहां था"'। जाने कितने युद्ध-जैसे 'अभिमन्यु' अनाम होते हैं, उनके चक्रव्यूह, अदृश्य,"'उनके युद्धों का कोई इतिहास नहीं लिखा जाता"'चक्रव्यूह में वे अनाम युद्ध भी करते हैं"'और निन्यान्वे प्रतिशत जिस मिट्टी से वे उठते हैं, उसी में मिल जाते हैं—चुपचाप। न उनका कोई इतिहास लिखा जाता है, न उनका कोई स्मारक बनता है"'उनकी चिता की राख भी बस धूल में मिलकर रह जाती है"'।

दादा बात-बात पर पौराणिक कथाओं के उदाहरण देते, इतिहास का उल्लेख करते, प्रिया को अपनी कहानी एक तन्मयता से, आत्म-विस्मृत-से सुनाया करते। कान तक फैली आंखों को पूरा फैलाये प्रिया तन्मयता से सुना करती। दादा के वर्णन चित्रात्मक होते या प्रिया की आंखें उन्हें चित्रात्मक बना लेतीं"'एक तन्मय चित्रात्मकता, नाना और नातिन को एकात्म कर देती"'।

'तो वह गोरा-उजला छोकरा रविशंकर प्रकृति से खिलदड़ा था, शरारती, उद्दंड। उसका सबसे पहला खेल था, पत्थर मार-मारकर गांव की पानी भर कर जाती हुई औरतों के घड़े फोड़ देना। रवि का गांव इतना गरीब था कि पीतल का कलसा कुछ के ही पास था, शेष के पास मिट्टी के घड़े ही थे। कभी निशाना चूक जाता, कभी उचट जाता, कभी सचमुच कोई घड़ा फूट जाता, तब कोई औरत रवि को जी भरकर गालियां देती, कोई उसकी मां को भी,"'अपने हिस्से की गालियां तो वह हमेशा चुपके खा लिया करता, किन्तु मां का नाम गाली के साथ सुनते ही होश खो बैठता"'इतना उद्दंड हो उठता कि मां को गाली देनेवाली का घड़ा बार-बार फोड़ता। घर पहुंचता तो मां जी भरकर पीटती, बाहर निकलता तो पिटते-पिटते"'बचता गजब की फुर्ती थी उसकी टांगों में, ऐसी दौड़ लगाता कि यह जा"'वह जा"' उसे पकड़ने दौड़ने वाले थक कर हांफने लगते, वह नदी-किनारे पहुंचकर बंसी बजाने लगता"'नदी में मछलियां बहुत थीं"'मछली वाली बंसी से वह मछलियां पकड़ना सीख गया था"'धीरे-धीरे वह मछलियां बेचना भी सीख गया।

'मां ने पंडित जी को हाथ जोड़-जोड़ कर गांव की पाठशाला में उस खिलंदड़े उद्दंड छोकरे को पढ़ने बैठाया। सात वर्ष का वह लड़का 'क-ख-ग' भी नहीं जानता था, बीस से ज्यादा गिनती भी नहीं। उसके गोरे, मैले, धूल-भरे मुख पर चांटे जड़ती मां, एक दिन फूट-फूट कर रोने लगी थी—'अरे

अभागे ! कुछ पढ़-लिख ले तो आदमी बन जायगा···पंडित जी का चौका-बासन मैं कर दिया करूंगी···भले आदमी हैं, तुझे पाठशाला में भरती करने के लिए राजी हो गए हैं। लेकिन याद रख, पाठशाला में कोई शरारत की तो अब मैं अपनी जान दे दूंगी। तू नहीं जानता रे अभागे, तेरी इस मां ने कितने दुख झेले हैं। क्या तू भी मुझे दुख देता रहेगा···?' उस दिन 'रोओ मत मां' कहता हुआ रवि पहली बार चांटे खाकर मां से लिपट गया था। सात वर्ष का वह बेवकूफ लड़का, एकाएक मां के आंसुओं का, दुख का कोई अर्थ समझ गया था। रवि को पहली समझ मां के दुःख ही की आई थी। धूल-भरे हाथों से मां के आंसू पोंछता वह भी सिसक उठा था, 'रोओ मत मां, मैं पढ़ूंगा।'

रवि पढ़ने लगा—गणित में शून्य मिलते, इतिहास और भाषा में शून्य के पहले आठ या नौ अंक होते···संस्कृत वह घोट-घोट कर पढ़ता, बंगाली में कक्षा में प्रथम आता···किन्तु भूगोल में वह फिर गोल हो जाता।

बाबा के वर्णनों पर प्रिया हंसते-हंसते लोट जाती। पूछती—'बाबा, बेंत तो रोज खाते होंगे। कितने?' 'नहीं, वह लड़का गणित और भूगोल की कक्षा में बेंत छिपाकर रख देता या बहाना बनाकर भाग खड़ा होता।' बाबा भी शरारत से जवाब देते।

'पंडित जी, पाठशाला के प्रधानाध्यापक रवि की मां से कहते—'लड़का मेधावी है लेकिन पढ़ने में पूरा मन नहीं लगाता। पूरे मन से पढ़े तो निश्चय ही कुछ बन सकता है···अच्छा रवि, तू क्या करना चाहता है—बता?' पंडित जी रवि के प्रति तरल हो उठे थे या उसकी मां के प्रति, जिसके मैले-कुचैले कपड़ों में टंके अंगों का लावण्य मलिन नहीं हो पाया था···साड़ी में थेगलियां लगी होतीं, कुरती में पैबन्द, और रवि की मां गांव के घरों में, खेतों में काम करती हांपती-दौड़ती होती—गालियां खाती होती···कलंकिनी कहलाती होती, चुपचाप बस, कभी-कभी रवि को मारते-मारते थककर वक्ष से सटा लेती—'मैं तो आज कुएं में कूद पड़ूं, फिर तेरा क्या होगा रे···।' रवि की मां का दोष शायद एक ओर उसका सुन्दर होना था, दूसरी ओर लोलुप पुरुषों के सौदे न स्वीकार करना।

मां के आंसुओं का अर्थ समझने के साथ, रवि को मां खो देने का अर्थ भी अचानक समझ गया था। अब वह काम पड़े फोड़ता, बंशी ज्यादा बजाता। कविता तो उसे आपसे-आप कण्ठस्थ हो जाती—'अच्छा रवि, तू क्या बनना

चाहता है, बता।' पंडित जी के प्रश्न के उत्तर में वह कहना चाहता—'कवि'''।' किन्तु 'कवि' शब्द उसके कण्ठ में अटक कर रह जाता'''मा को वह इस निरर्थक शब्द का अर्थ समझा नहीं पायेगा'''मा तो सिर्फ इतना चाहती है कि लड़का चार अक्षर पढ़-लिखकर आदमी बन जाय'' शायद कुछ अच्छे ढंग से जी सके'''शायद बुढ़ापे में मा को बैठाकर खिला सके'''कम से कम अपना पेट तो भर सके, नहीं तो मां को कुछ हो गया तो यह बेवकूफ जियेगा कैसे ? मां कपाल ठोक कर बार-बार समझाती। रवि जीने और भूख का रिश्ता, पेट और रोटी का रिश्ता समझने लगा था। आठवीं कक्षा तक पहुंचते-पहुंचते सोलह वर्ष का किशोर रवि कुछ और रिश्ते भी समझने लगा'''

'बंशी में वह लोकगीतों की धुन ऐसी बजाता कि सुनने वाले ठिठकने लगते'''। गांव की नौटंकी में कृष्ण बना तो वह नौटंकी बार-बार खेली गई''' उसे कालिदास के बंगाली अनुवाद कण्ठस्थ हो गए थे, रवीन्द्र-संगीत वह ऐसा झूमकर गाता कि सुनने वाले झूमने लगते। किन्तु इन सबके पुरस्कार में उसे सुनने को मिलता—'साला ! बिना बाप का''''नौटंकी के ही लायक है।

मा कानों पर हाथ रख लेती—'बेटा, ये सब बेकार के शौक छोड़ दे''' देख, लोग क्या कहते हैं।' मा कभी रोती, कभी चीखती।

बार-बार यही सुनते, उस रात रवि पागल हो उठा। खाने की थाली उठाकर फेंक दी और रोती-धोती मा को अकेली छोड़कर नदी के किनारे जा बैठा। सवेरे शान्त होकर मां से माफी मांगने लौटा तो मा शान्त हो चुकी थी—'''मां की देह मैले-कुचैले बिछावन पर निस्पंद पड़ी थी, आंखें आधी खुली थीं'''शायद रवि की प्रतीक्षा में वह खुली रह गई थी। कोई कहता कुछ खा-पी लिया शायद, कोई कहता, जन्म की दुखियारी थी, आखिर कब-तक सहती'''और फिर रवि-जैसे 'पूत' से उसे आशा भी क्या थी''' [illegible]-वालों ने रवि के माथे पर मा को मार डालने के कलंक का खूब [illegible] तिलक लगा दिया। मा की चिता को राख होते देखता रवि [illegible] बंशी बजाने लगा था—अब बंशी जैसे एक चुनौती थी'''। [illegible] मां के लिए ही तो डरता था न'''। अब सालों को ईंट का [illegible] देगा। मा को उसने नहीं, इन सबने मारा है, इन सबने इस [illegible] ने, इस निर्दयी समाज ने !

"वह सचमुच आवारा हो उठा—एकदम उद्दण्ड। मछली पकड़कर कच्ची ही चबाने लगता, भूख लगती तो छीन-झपट कर चाहे जैसे खाने लगता, चोरी भी करता तो सिर्फ़ खाने की चीजों की···और कुछ नहीं चुराता···ठण्ड में नंगे बदन कांपता वंशी बजाता रहता···लोग कहते—शायद पागल हो गया है···वे उसकी भलमनासहत से तो नहीं डरे···उसके पागलपन से डरने लगे थे। अब वह जहां जा खड़ा होता, उसे रोटियां या भात मिलने लगा था। यद्यपि उस अन्न में तिरस्कार ही भरा होता था, किन्तु देह को जीने के लिए अन्न चाहिए, पेट को भरने के लिए भात या रोटी ही चाहिए···न देह वंशी की धुनों पर जी सकती है, न पेट मेघदूत के काव्य से···और यदि वह गले में हारमोनियम लटका कर रवीन्द्र-संगीत गाने भी लगे तो भीड़ भीख के रूप में ही टके ही फेंकेगी···नहीं, रवि चोरी करेगा, भीख नहीं मांगेगा···रवीन्द्र-संगीत के नाम पर तो कदापि नहीं।··· बेहया, आवारा, उद्दण्ड रवि समाज के लिए एक चुनौती बन गया था। वह 'प्यार' चाहता था, उसे नफरत मिल रही थी। यदि वह पागल हो उठा था, तो केवल किसी सिक्त स्पर्श के लिए···किन्तु उसके चारों ओर अंगारे थे···केवल अंगारे!'

गांव के पुरुष उसे हिंसक दृष्टि से देखते, औरतें तिरस्कार से सुनातीं—'बाप का पता नहीं, छिनाल मां मर गई···मरे का सुबह-सुबह मुंह देख लो तो पता नहीं, दिन कैसा बीते···?' अतः वह सवेरे किसी दरवाजे पर नहीं जाता, जाता तो दिन-चढ़े, जब भूख सहना असम्भव हो जाता, 'क्यों रे! तू कोई काम-धाम क्यों नहीं करता? हराम की मांगता-फिरता है, शरम नहीं आती···इतना बड़ा हो गया।···बाप को खा गया, मां को मार डाला···।'

लेकिन रवि कोई काम मांगता तो भी सुनता—'चोर, आवारा कहीं का! कौन काम देगा तुझे? लूट कर भाग गया तो···'

सोलह वर्ष का निरपराध रवि, पता नहीं किन-किन अपराधों का अपराधी हो उठा था···। वह अकेले में बैठकर सचमुच अपने 'अपराध' समझना चाहता···किन्तु उसकी समझ में कुछ भी नहीं आता, या आ नहीं पाता··· थका-हारा, भूखा-प्यासा वह कभी-कभी दिन-दिन भर भूखा, किसी पेड़ के नीचे पड़ा रहता···हां, प्यास बुझाने के लिए नदी में पानी काफी था। किन्तु जाने क्यों, उसे मछलियों पर दया आने लगी थी···उसने मछली पकड़ने की वन्सी तोड़ कर फेंक दी थी, वह दूसरी वंशी को भी कभी-कभी तोड़कर

फेंक देने के लिए पागल हो उठता। फिर बिना सुर छेड़े उसे चूमता, वक्ष से चिपका लेता, सो जाता···रवि को नींद भरपूर आती थी। 'साला, कुंभकरन की औलाद मालूम पड़ता है···।' वह यह एक धिक्कार और सुनता। उसकी भूख और प्यास ही नहीं, नींद भी तिरस्कार की वस्तु थी। पता नहीं, किसने उसे रविशंकर जैसा भव्य नाम दिया···वह अपने नाम का सन्धि-विच्छेद करता—रवि अर्थात् सूर्य, शंकर अर्थात् देवाधिदेव महादेव! लेकिन वह तो न सूर्य है, न शंकर····वह तो···वह तो पता नहीं क्या है?'

बाबा जब यह 'पता नहीं क्या है····' कहते तो प्रिया निश्चल होकर रह जाती···पता नहीं, वास्तव में यह सब क्या है···? प्रिया के चारों ओर शून्य मंडराने लगते। बाबा ने केवल आठवीं तक शिक्षा पाई, मा मैट्रिक पास हैं, वह बी० ए०, बी० एड० है, इन्टर की कक्षा को हिन्दी साहित्य पढ़ाती है। शिक्षा के नाम पर आठवीं से बी० ए०, बी० एड० तक पहुंचकर भी उनके अस्तित्वों की तीनों पीढ़ियां क्या वास्तव में इन मंडराते शून्यों के पूर्व कोई अंक लगा सकी हैं···या वे सब अपनी-अपनी परिधि के घेरों में बन्दी हैं—चिरबन्दी!···उनके शून्य उनकी परिधियां हैं···बिना किसी अंक के योग के, निरर्थक शून्य···और बस, ये शून्य ही संख्या में बढ़ते जा रहे हैं।

प्रिया का माथा चकराने लगता है—'अब बस करो बाबा! बोलते-बोलते तुम्हारा मुंह दुखने लगा होगा····' प्रिया की फैली आंखों में मरुथल फैल जाता है···।

'या सुनते-सुनते तेरा सिर? तेरा बाबा यदि तुझे अपनी कहानी न सुनाये तो घुट कर मर जायेगा···एक तू ही तो है, जो अपने बाबा को समझ सकती है····' फिर बाबा सचमुच चुप हो जाते या आंखें मूंदकर गुनगुनाने लगते—'नन्दक नन्द कदम्बक तरु तर धीरे-धीरे मुरली बजाव····'

बाबा की यह चुप या वह गुनगुनाहट—प्रिया के निकट दोनों का अर्थ एक ही था···बाबा का ही नहीं, प्रिया का मन भी ऐसे मौन या मुखरता में एक-सा ही घुटता···दो पीढ़ियों का अन्तर लांघ कर नाना और नातिन एक बिन्दु पर फिर एकात्म हो उठते···घुटन के उस बिन्दु पर···जब सांसें इतनी बोझिल हो जाती कि सांस लेना असम्भव हो जाता···

जब तक नातिन सोलह वर्ष की नहीं हुई, नाना ने उसे अपने सोलह वर्ष से आगे की कथा भी नहीं सुनाई थी। प्रिया की सोलहवीं वर्ष-गांठ के दिन उसका माथा चूमते नाना मगन हो उठे थे—'अरे, तू तो सचमुच मृगेक्षिणी,

शारदीया, प्रियदर्शिनी हो उठी है···। कैसा उज्ज्वल रूप पाया है मेरी लाड़ली ने, कैसी उज्ज्वल चितवन कि तुलसीदास याद आ रहे हैं—

जहं बिलोक मृग-सावक नैनी।
जनु तहं बरस कमल सित श्रेनी॥

···अर्थात् मृग-सी आंखों वाली 'सीता जिस ओर भी देखती थी, उजले शुभ्र कमलों की कतार बरस-सी जाती थी···' बाबा उस चौपाई की व्याख्या करते प्रिया को अपलक देखने लगे थे, फिर एक ठण्डी सांस भरते कहा था—'किन्तु सीता की आंखों के वे शुभ्र कमल, लगभग जीवन-भर आंसुओं के खारे जल में डूबे रहे। उन्हें मीठे पानी की नीली झील मिलनी चाहिए थी। राम के मानस-मानसरोवर की झील मिली भी थी। फिर जाने किस अभिशाप ने सीता के उन शुभ्र कमलों को राम के मानसरोवर से विलग कर आंसुओं को खारे सरोवर में फेंक दिया। विधाता ने तुझे सीता के वे शुभ्र कमल तो दिये हैं। कहीं कोई खारा सरोवर भी न दे बैठे···। भगवान् करें, तुझे कोई नीली झील का मानसरोवर ही मिले। हे अन्तर्यामी, हे सर्वशक्तिमान्! मेरी बेटी के इन शुभ्र कमलों की रक्षा करना!'

और बाबा, प्रिया की सोलहवीं वर्षगांठ के दिन, सारे दिन, आंखें मूंदे, मौन प्रार्थना-रत से रहे थे। मां हंसी थीं—'अरे प्रिया, आज क्या हो गया तेरे बाबा को, बड़े चुप हैं···। जा, अपने हाथ से उन्हें मिठाई खिला, पैर छू, आज तेरा जन्म-दिन है न! और ले,ये नई नीली साड़ी पहने ले, इससे अच्छी ला नहीं सकी बेटी···तू तो राजरानी होने लायक थी···क्यों इस अभागिन की कोख से जनम लिया···?' प्रिया के मस्तक पर आशीर्वाद का हाथ रखती मां आंसुओं को छिपाती खूब हंसती रही थीं। उस दिन बाबा का मौन भी अप्रत्याशित था, मां की हंसी भी···। दर्पण में अपने निखर आये लावण्य को देखती प्रिया देर तक स्तब्ध खड़ी रही थी···केवल चित्रा, प्रिया से दो वर्ष बड़ी चित्रा, चटखारे ले-लेकर मिठाई खा रही थी, मां से नई साड़ी के लिए झगड़ रही थी और प्रिया के कानों से ओंठ सटाकर कह रही थी—'काश, विधाता तेरा-सा रूप मुझे देता···तुझसे बड़ी जलन होती है री मुझे! क्या थोड़ा-सा रूप उधार देगी?' चित्रा की आंखों में सचमुच कुछ जल-सा उठता···बार-बार···कोई उद्दाम-सी आग!

प्रिया को चित्रा की उन उन्मादिनी आंखों से बड़ा डर लगता···कहीं सचमुच दीदी कोई पागलपन न कर बैठे? वे सगी बहिनें थीं—किन्तु प्रिया

जैसे किसी झील-सी गहरी शान्त हो उठी थी, चित्रा बरसाती नदी सी कूल-कगारों को लांघती, बहती-बहाती उफन पड़ी थी"'।

उस दिन चित्रा ने खूब कलह की थी, 'प्रिया के लिए नई साड़ी और मेरे लिए ठेंगा ! शाम तक मुझे भी ठीक प्रिया जैसी साड़ी चाहिए"' चाहिए"'चाहिए ! तू बड़ी चालाक है मा, प्रिया बी० ए० कर रही है न, तुझे बुढ़ापे में खिलाएगी, इसलिए उसे पोट रही है। मैं क्या करूं, मेरा मन ही पढ़ाई में नहीं लगता"'देखूंगी मैं, यह निगोड़ी प्रिया ही कौन से तीर मारती है ? प्रिया का सा रूप न सही, भजन मैं भी गा सकती हूं"'। निर्लज्ज हो उठी चित्रा को चांटा जड़ने बढ़ी मा को प्रिया ने रोक दिया था। वह उन्मादिनी हो उठी बहिन और क्रोध से कांपती मा के बीच खड़ी हो गई थी।

बाबा ने शायद यह सब सुन लिया था। उस दिन, प्रिया के हाथ से केवल मिठाई का एक टुकड़ा खाकर वे मौन एवं निराहार रहे—'आज उपवास करूंगा बेटी। उपवास से शान्ति मिलती है"'शक्ति भी।' प्रिया ने देखा, सारे दिन बाबा पलकें मूंदे निश्चल पड़े रहे।

प्रिया उस दिन कॉलेज नहीं गई, जा नहीं सकी। नई नीली साड़ी में अपने निखर उठे लावण्य को बार-बार निहारती सारे दिन खिड़की से बाहर नीले आकाश को देखती रही"'? शरद् का आकाश उसकी नीली साड़ी-सा ही निरभ्र-नीला था"''अरे, ये गुलाब कब खिल गए !' प्रिया को आश्चर्य था"'ये पौधा तो बिलकुल सूख गया था, हरा कैसे हो गया, कब हो गया"'!' और प्रिया भी उन गुलाबों को देखती उन्मादिनी हो उठी"'बाबा का अप्रत्याशित मौन, मां की अप्रत्याशित हंसी, दीदी की अप्रत्याशित कलह और ये अप्रत्याशित खिल उठे गुलाब ! प्रिया का मन स्वयं को भी छूकर उन गुलाबों की सुगन्ध में डूब गया"'बाबा के स्थान पर वह गुनगुनाने लगी थी—'नन्दक नन्द कदम्बक तरुतर धीरे-धीरे मुरली बजाव"''

सोलहवें वर्ष का वसन्त, प्रिया के अंगों में प्राणों तक, उन गुलाबों-सा ही खिल उठा था"'।

शारदीया, प्रियदर्शिनी हो उठी है···। कैसा उज्ज्वल रूप पाया है मेरी लाड़ली ने, कैसी उज्ज्वल चितवन कि तुलसीदास याद आ रहे हैं—

जहं बिलोक मृग-सावक नैनी।
जनु तहं वरस कमल सित श्रेनी॥

···अर्थात् मृग-सी आंखों वाली 'सीता जिस ओर भी देखती थी, उजले शुभ्र कमलों की कतार बरस-सी जाती थी···' बाबा उस चौपाई की व्याख्या करते प्रिया को अपलक देखने लगे थे, फिर एक ठण्डी सांस भरते कहा था—'किन्तु सीता की आंखों के वे शुभ्र कमल, लगभग जीवन-भर आंसुओं के खारे जल में डूबे रहे। उन्हें मीठे पानी की नीली झील मिलनी चाहिए थी। राम के मानस-मानसरोवर की झील मिली भी थी। फिर जाने किस अभिशाप ने सीता के उन शुभ्र कमलों को राम के मानसरोवर से विलग कर आंसुओं को खारे सरोवर में फेंक दिया। विधाता ने तुझे सीता के वे शुभ्र कमल तो दिये हैं। कहीं कोई खारा सरोवर भी न दे बैठे···। भगवान् करें, तुझे कोई नीली झील का मानसरोवर ही मिले। हे अन्तर्यामी, हे सर्वशक्तिमान्! मेरी बेटी के इन शुभ्र कमलों की रक्षा करना!'

और बाबा, प्रिया की सोलहवीं वर्षगांठ के दिन, सारे दिन, आंखें मूंदे, मौन प्रार्थना-रत से रहे थे। मां हंसी थीं—'अरे प्रिया, आज क्या हो गया तेरे बाबा को, बड़े चुप हैं···। जा, अपने हाथ से उन्हें मिठाई खिला, पैर छू, आज तेरा जन्म-दिन है न! और ले,ये नई नीली साड़ी पहने ले, इससे अच्छी ला नहीं सकी बेटी···तू तो राजरानी होने लायक थी···क्यों इस अभागिन की कोख से जनम लिया···?' प्रिया के मस्तक पर आशीर्वाद का हाथ रखती मां आंसुओं को छिपाती खूब हंसती रही थी। उस दिन बाबा का मौन भी अप्रत्याशित था, मां की हंसी भी···। दर्पण में अपने निखर आये लावण्य को देखती प्रिया देर तक स्तब्ध खड़ी रही थी···केवल चित्रा, प्रिया से दो वर्ष बड़ी चित्रा, चटखारे ले-लेकर मिठाई खा रही थी, मां से नई साड़ी के लिए झगड़ रही थी और प्रिया के कानों से ओंठ सटाकर कह रही थी—'काश, विधाता तेरा-सा रूप मुझे देता···तुझसे बड़ी जलन होती है री मुझे! क्या थोड़ा-सा रूप उधार देगी?' चित्रा की आंखों में सचमुच कुछ जल-सा उठता···बार-बार···कोई उद्दाम-सी आग!

प्रिया को चित्रा की उन उन्मादिनी आंखों से बड़ा डर लगता···कहीं सचमुच दीदी कोई पागलपन न कर बैठे? वे सगी बहिनें थीं—किन्तु प्रिया

जैसे किसी झील-सी गहरी शान्त हो उठी थी, चित्रा बरसाती नदी सी कूल-कगारों को लांघती, बहती-बहाती उफन पड़ी थी···।

उस दिन चित्रा ने खूब कलह की थी, 'प्रिया के लिए नई साड़ी और मेरे लिए ठेंगा! शाम तक मुझे भी ठीक प्रिया जैसी साड़ी चाहिए··· चाहिए···चाहिए! तू बड़ी चालाक है मां, प्रिया बी० ए० कर रही है न, तुझे बुढ़ापे में खिलाएगी, इसलिए उसे पोट रही है। मैं क्या करूं, मेरा मन ही पढ़ाई मे नहीं लगता···देखूंगी मैं, यह निगोडी प्रिया ही कौन से तीर मारती है? प्रिया का सा रूप न सही, गजब मैं भी ढा सकती हूं···'। निर्लज्ज हो उठी चित्रा को चाटा जड़ने बढ़ी मां को प्रिया ने रोक दिया था। वह *उन्मादिनी हो उठी बहिन और क्रोध से कांपती मां के बीच खड़ी हो गई थी।*

बाबा ने शायद वह सब सुन लिया था। उस दिन, प्रिया के हाथ से केवल मिठाई का एक टुकड़ा खाकर वे मौन एवं निराहार रहे—'आज उपवास करूंगा बेटी। उपवास से शान्ति मिलती है···शक्ति भी।' प्रिया ने देखा, सारे दिन बाबा पलकें मूंदे निश्चल पड़े रहे।

प्रिया उस दिन कॉलेज नहीं गई, जा नहीं सकी। नई नीली साड़ी में अपने निखर उठे लावण्य को बार-बार निहारती सारे दिन खिड़की से बाहर नीले आकाश को देखती रही···? शरद् का आकाश उसकी नीली साड़ी-सा ही निरभ्र-नीला था···'अरे, ये गुलाब कब खिल गए!' प्रिया को आश्चर्य था···'ये पौधा तो बिलकुल सूख गया था, हरा कैसे होगया, कब हो गया···!' और प्रिया भी उन गुलाबों को देखती उन्मादिनी हो उठी···*बाबा का* अप्रत्याशित मौन, मां की अप्रत्याशित हसी, दीदी की अप्रत्याशित कलह और मे अप्रत्याशित खिल उठे गुलाब! प्रिया का मन स्वय को भी भूलकर उन गुलाबों की सुगन्ध मे डूब गया···बाबा के स्थान पर वह गुनगुनाने लगी थी—'नन्दक नन्द कदम्बक तरु-तर धीरे-धीरे मुरली बजाव···'

सोलहवें वर्ष का वसन्त, प्रिया के अगों से प्राणो तक, उन गुलाबों-सा ही खिल उठा था··।

मई का महीना था। प्रिया का कॉलेज वन्द था, मां का स्कूल भी। दस जते-वजते धूप प्रचंड हो उठती, वारह वजते-वजते असह्य। घर में केवल एक छोटा-सा टेवलफैन था—मां नीलाम में से ले आई थी। वावा से न अधिक सरदी सहन होती थी, न अधिक गरमी। लुंज-पुंज वावा को किसी भी तीव्र स्थिति में—चाहे वह मौसम की हो, चाहे सम्वन्धों की—छटपटाते प्रिया ने कई वार देखा था। ऐसे में वे अधिकतर चुप हो जाते—विलकुल चुप, आंखें मूंद लेते, प्रार्थना-रत हो होठों को कस लेते, छाती पर हाथ वांध लेते··· सारा शरीर निश्चल हो जाता, किन्तु तकिए पर वेचैनी से सिर इधर-उधर होता रहता···। फिर शायद वे सो से जाते, किन्तु जागते वावा जिस कराह को दवाये निश्चल हो जाते थे, नींद में वह कराह वार-वार उठती थी। कभी-कभी सारे दिन निश्चल पड़े वावा, सारी रात कराहते, करवटें वदलते रहते थे। दूसरे सवेरे, एक दुर्वल हंसी हंसते, सहन होने का प्रयास करते, कहते—'प्रिया री ! लोग सच कहते थे, तेरा वावा कुम्भकरन की औलाद ही है···कल क्या सोया है ! पूरे चौवीस घण्टे की नींद मारी है। लगता है, तू ठीक से नहीं सोई, तेरी आंखों के कमल रतनारे हो उठे हैं···।'

ऐसे में प्रिया न रो पाती, न हंस पाती, वस लगता कि वह घुट जायेगी, उसकी सांसें, उसके सपने भी सव घुट जायेंगे जैसे, वावा घुटते-घुटते दम तोड़ने लगे हैं, जैसे मां एक दीर्घ घुटन को झेलती टूटने लगी है···

मई का वह तपता दिन, इतना गरम हो उठा था कि प्रिया का जी चाह रहा था, वह नल की ठंडी धार के नीचे ही वैठी रहे···वह पानी से नहा-कर निकलती कि पसीने से नहा जाती। मां ने आवाज़ दी—'प्रिया, आ वेटी, खाना खा ले, वारह वज रहे हैं···चित्रा, तू भी आ।'

प्रिया धीमे कदमों से आई, चित्रा धमकती पहुंची। 'ला दे, देखूं, क्या पकवान खिलाती है हमारी 'ग्रेट' मां आज।'

'इस लड़की को और तो क्या, वात करने की तमीज़ भी नहीं आयेगी ···वस, सारे दिन विन्दी, पाउडर, ताश-कैरम या गप···कल तू किसके सा मैटिनी गई थी ? मुझ से पूछा तक नहीं।' मां, खाना परस रही थी, स्व

सख्त हो उठा था।

चित्रा ने परोसी थाली, परे सरका दी, चीखी—'सुनोगी? तो साफ-साफ सुनो, कल सुरेश के साथ सिनेमा देखने पहली बार गई थी, अब बार-बार जाऊंगी।'

'अब तू सुरेश के साथ एक बार भी नहीं जायेगी, याद रख! नहीं तो टांगें तोड़ दूंगी।' मां भी चीख पड़ी।

'अच्छा, आप मेरी टांगें तोड़ेंगी, उसके पहले मैं आपका हाथ ही नहीं मरोड़ दूंगी। हाथ लगाकर तो देखिये। बचपन में आप मुझे बात-बेबात पीटती रही हैं, अब मैं बच्ची नहीं, अपना भला-बुरा सोच समझ सकती हूं। अच्छी तरह कान खोलकर सुन लो मां—'मैं सुरेश से प्रेम करती हूं।'''सुरेश भी मुझपर जान देता है'''हम एक-दूसरे से अलग नहीं होंगे। देखूंगी, तुम मुझे कैसे रोकती हो।' चित्रा की आंखों में एक उन्माद था।

मां जैसे स्तब्ध रह गई, फिर धीरे-धीरे बोलने की शक्ति-सी बटोरती, हार गई-सी बोली, 'चित्रा बेटी, ईश्वर के लिए, अपनी इस अभागिन मा पर दया कर, अपनी इस निर्दोष बहन पर, अपने बूढ़े नाना पर'''होश मे आ, नहीं तो सर्वस्व-नाश कर बैठेगी। तू क्या 'प्रेम' का अर्थ भी समझती है? और वह आवारा, बदचलन लड़का तुझ पर जान देगा! नहीं, तेरी जान ले लेगा'''और हम सबका जीना मुश्किल हो जायगा'''

'क्यों, क्या प्रेम करना पाप है, अपराध है? पागलपन है'''? तुमने भी तो अपने ढंग का प्रेम किया था'''मैं सब समझने लगी हूं'''पिताजी से तो पटी नहीं, लेकिन केशव जी को देखकर इस उम्र में आज भी तुम्हारे चेहरे का रंग क्यों बदल जाता है? बड़ी सती-सावित्री है न आप, जो मुझे उपदेश दे रही हैं'''।' चित्रा सचमुच उन्मादिनी हो उठी थी।

'दीदी,'''दीदी'''चुप करो'''देखो, मा को कुछ हो गया है'''मा'''मां'''' प्रिया अचेत होती मा से लिपट गई। चित्रा जैसी धमकती आई थी, धमकती चली गई। मा को समालकर, खाट पर लिटाती प्रिया, खाट की पाटी पर सिर टेककर फूट-फूट कर रोने लगी थी। मां शायद बेहोश हो गई थी।

शाम हुई, रात हुई, दूसरा सवेरा भी हो गया'''चित्रा नहीं लौटी। सवेरे ग्वाले से दूध लेने के लिए प्रिया ने दरवाजा खोला तो एक चिट दरवाजे के नीचे से भीतर सरकाई गई पड़ी थी—'मैं सुरेश के साथ जा रही

हूं—चित्रा।'

चिट पढ़ती प्रिया, निश्चल हो गई, मुख सफेद पड़ गया…। दूध देने वाला काका कह रहा था—'का भया बिटिया ! तबियत ठीक नहीं या और कुछ गड़बड़ है ?'

दूध का बरतन प्रिया के निस्पन्द होते हाथों से छूट गया…आवाज़ सुन कर मां दौड़ी—'क्या हुआ ?' बाबा भी चीखे—'क्या हुआ है ?'

प्रिया ने निस्पन्द होती उंगलियों में पकड़ी चिट बढ़ा दी। उसकी बड़ी बड़ी आंखें पथरा उठी थीं, वह अपलक मां को देख रही थी। मां ने चिट पढ़ी, फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दी। प्रिया को खींचकर कलेजे से चिपटा लिया। प्रिया और मां पाषाण-प्रतिमाओं-सी जाने कितनी देर चिपटी खड़ी रहीं…होश आया, जब बाबा जोर-जोर से चीखने लगे—'अरे क्या हुआ… क्या हुआ, इस अभागे बुड्ढे को भी बताओ।'

छुट्टियों के दिन थे ही। मां ने दरवाज़े पर सांकल चढ़ाकर ताला जड़ दिया। कोई भी पड़ोसी आता या पड़ोसिन दरवाज़ा खटखटाती तो मां बिना दरवाज़ा खोले उत्तर देती, 'प्रिया के बाबा की तबियत ठीक नहीं है, कृपया डिस्टर्ब मत कीजिए।'

किन्तु बात छिपी नहीं। पहले कानाफूसियां हुईं; फिर मुहल्ले में शोर मच गया— 'अरे सुना, अपनी मास्टरनी की लाड़ली भाग गई जी, हां भाग गई, उस निखट्टू सुरेश के साथ…। बाप रे बाप, कैसा कलयुग आ गया है…सचमुच कलियुग आ गया है।'

तीसरे दिन पड़ोसिनों का एक जमघट दरवाज़ा खुलवाकर ही माना। 'च च…' करती किसी ने पूछा—'कौन भाग गई, बड़ी या छोटी ?'

सौदामिनी ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, 'चित्रा चली गई है, मेरी बड़ी बेटी। छोटी 'प्रिया' कभी नहीं जायेगी, आप विश्वास रखें।'

'अजी, विश्वास तो हमें सबसे ज्यादा आप पर है। हम सब तो अनपढ़ हैं, आप पढ़ाती हैं…। अपनी ही बेटी नहीं संभाली गई तो दूसरों की बेटियां क्या संभालेंगी ?' दूसरी बोली।

तीसरी ने आंखें मटकाईं, 'अजी, यह छोटीवाली भी आज नहीं तो कल जायेगी ही…बड़की में तो ऐसा कुछ रूप भी नहीं था, लेकिन यह छुटकी… देखती नहीं, रूप फटा पड़ रहा है…' फिर स्वर को धीमा कर वाक्य पूरा किया, 'जवानी भी…।'

सौदामिनी तड़प उठी—'बन्द कीजिये आप अपनी बकवास, चली जाइये, हमें अपने हाल पर छोड़ दीजिये।' फिर सहसा कातर हो उठीं, 'आप सबकी भी बेटियां हैं। उनकी ममता के नाम पर मेरी उस कलंकिनी बेटी को क्षमा कर दीजिये। और उस फूल-सी निर्दोष, मेरी दूसरी बेटी पर पत्थर मत फेंकिये! आप सबके हाथ जोड़ती हूं, पांव पड़ती हूं।' सौदामिनी उस आंखें मटकाने वाली के पैरों पर झुक गई थी। वह सौदामिनी के स्कूल के एक ट्रस्टी की पत्नी थी।

'न, न, मेरे पैर न छूइये'''घबड़ाइये नहीं, आपकी नौकरी बरकरार रहेगी। केशव जी स्कूल के प्रिंसिपल हैं, हमारे पतिदेव तो केवल ट्रस्टी हैं। स्कूल वे नहीं, केशव जी चलाते हैं'''और सब जानते हैं, केशव जी को आप चलाती हैं'''। न, न, मेरा कोई ऐसा-वैसा मतलब नहीं है—मेरा कहना सिर्फ इतना ही है कि केशव जी आपको बहुत मानते हैं, मानते हैं न? वरना इन बेटियों के बाप तो साल भर में कभी एकाध बार आते हैं, केशव जी किसी इतवार को नहीं चूकते'''और तो हर दिन स्कूल में ही भेंट हो जाती है। एक इतवार को स्कूल बन्द रहता है, तो वे घर पर पधार जाते हैं'''खैर, कोई बात नहीं, अब तो आजादी का जमाना है, एक बेटी भाग भी गई तो क्या, अभी दूसरी तो टिकी है। चलो बहनो! मास्टरनी जी को आराम करने दो, बेचारी की तबियत सचमुच खराब दिखती है'''प्रिया बेटी, मां का खास ख्याल रखना'''केशव जी को तो खबर दे दी होगी'''। न दी हो तो खबर कर देना, आखिर मास्टरनी जी को भी तो कोई सभालने वाला चाहिए!'

उन सबके जाने के बाद सौदामिनी पागल-सी उठी, प्रिया की कोठरी में घुसकर दरवाजा बन्द कर लिया। प्रिया सिसकती दरवाजा पीटती रही—'दरवाजा तो खुला रहने दो मां, दरवाजा खोलो'''' लेकिन मां ने दरवाजा नहीं खोला, शायद वे अचेत हो गई थीं।

प्रिया दौड़कर बाबा के पास आई, लिपट गई। बाबा की आंखों से अविरल अश्रु झर रहे थे। उनका रक्तहीन मुख एकदम सफेद हो गया था''' एक हाथ को तो वर्षों पूर्व लकवा मार गया था। प्रिया के सिर पर हाथ फेरता, दूसरा हाथ भी थर-थर कांप रहा था। सिसकती प्रिया भी बाबा के पार्श्व में लुढ़क गई थी।

फिर जाने कैसे सवेरे-शाम बीतते रहे, तारीखें बदलती रहीं''' प्रिया के, बाबा के होश तब लौटे, जब एक दिन केशव जी अबके

लिये, उल्लसित होते बताने आये—'सौदामिनी जी, देखिये···देखिये, प्रिया का रिजल्ट आया है। हमारी बेटी फर्स्टक्लास-फर्स्ट आई है। मैं कहता था न, प्रिया इज़ ए जेम।' केशव जी बाबा को बधाई देने बाबा की कोठरी में गए, फिर बिना रुके चले गए।···जाते-जाते प्रिया के सिर पर पल भर हाथ रख दिया था। प्रिया ने लक्ष्य किया—केशव जी और मां की आंखें एक-जैसी आहत थीं।

दूसरी कोठरी में मां और बेटी फिर लिपट गई थीं। पाषाण-प्रतिमाएं स्पन्दित हो उठी थीं···। सौदामिनी प्रिया का मुख चूम रही थीं—बार-बार ! और प्रिया···बी० ए० में फर्स्ट क्लास फर्स्ट आनेवाली युवती, तरुणी प्रिया—तीन-चार वर्ष की अबोध बालिका-सी मां की गोद में सिमट गई थी···। बाबा, जैसे एक युग के बाद खाट पर ताल देते गाने लगे थे—

'विहरति हरिरिह सरस वसन्ते···।'



जून आ गया था। तपते लाल आकाश पर, कजरारे-काले मेघ घुमड़ने लगे थे। धरती के प्यासे होंठों पर वे बरसने भी लगे थे···धरती के सूख गए वक्ष से कोंपलें फूटने लगी थीं। वर्षा ऋतु ने धानी चूनर ओढ़ ली थी। मां, प्रिया के लिए धानी रंग की नई साड़ी ले आई थी।

धानी साड़ी पहन कर, प्रिया बाबा के पैरों में झुकी, 'मुझे आशीर्वाद दो बाबा !'

आशीर्वाद का हाथ प्रिया के सिर पर रखते बाबा गद्गद हो उठे, "अरे बेटी ! मेरा तो रोम-रोम तुझे असीसता रहता है—सदा ! लेकिन अब ये तो बता कि क्या आशीर्वाद दूं···?'

प्रिया ने निर्दोष आंखें उठाईं, 'यह तो मुझे स्वयं पता नहीं बाबा, कि मुझे क्या चाहिए···?' प्रिया की उन कान तक खिंची, उज्ज्वल, बड़ी-बड़ी आंखों की पलकें इतनी स्याह और घनी थीं कि उसके अरुणाभ कपोलों पर उनकी श्यामल छाया धूप-छांह का इन्द्रजाल-सा रच देती···। उस इन्द्रजाल को देखते, नातिन के भरपूर रूप पर पुलकित होते नाना कविता बनाने लगते थे—

यह कैसी उजली धूप खिली
या शरद चांदनी शरमाई !

या बिखर गए फूल ही फूल
जो मेरी नातिन मुसकाई !

प्रिया सचमुच शरमा गई, 'बाबा, तुम तो अभी भी बच्चों जैसी बातें करते हो, तुकें जोड़ते रहते हो, इत्ते बुड्ढे हो गए फिर भी।'

बाबा हंस पड़े, 'क्या कहा री। मैं बुड्ढा हो गया'''चल हट, मैं बुड्ढा हो ही नहीं सकता। बाल सफेद हो जाने या दांत टूट जाने से क्या होता है, मन तो अभी भी मेरा बीस-इक्कीस वर्ष वाला ही है'''हां, वही बीस-इक्कीस वर्ष वाला, जब तेरी नानी इस मन में बस नहीं, घुस गई थी'''और ऐसी घुसी कि आजतक निकाले नहीं निकली। अब तू कहेगी—नाना ! नानी है कहां, वह तो कभी की मर चुकी—तो क्या मैं इसे मान जाऊंगा ? दुनिया की दृष्टि में, प्रकृति के नियमानुसार, विधाता के विधान ने उसकी वह सोने सी काया अवश्य नष्ट कर दी, किन्तु तेरे नाना के मन से उसकी मोहिनी माया कहां नष्ट हुई'''? वह तो आज भी, अभी भी मेरे निकट बनी रहती है, लेकिन एक जादू है उसके पास कि वह केवल मुझे दिखाई देती है, और किसी को भी नहीं।'

प्रिया हंसी, 'बाबा, तुम सचमुच पागल हो !'

बाबा भी हंसे, 'हां, यह माना कि मैं पागल हूं। यह पागलपन ही तो है यह अपाहिज खुज-रुज बुड्ढा नाना रहता है, जिये जाता है'''मर जाता तो सौदामिनी की छाती से एक पत्थर हट जाता। मर-मर कर कमाती है तेरी मां, और आधी तनखा इस बुड्ढे पर, इसके लिए दवाइयां पर खर्च कर देती है। मैं न रहता, तो शायद मेरी मां यानी कि मेरी बेटी और मेरी बेटी की दोनों बेटियां, कुछ तो चैन से रहतीं।'''तब शायद, अभावों से तंग आकर चित्रा ऐसे न भागती'''। शायद सौदामिनी उसके लिए अच्छा घर-वर जुटा पाती। अच्छा दहेज दे सकती तो क्या चित्रा को अच्छा घर-वर नहीं मिलता ? दोष तो सब देते हैं उस अभागिन चित्रा को, केवल तेरा नाना पड़ा-पड़ा सोचता रहता है कि शायद दोषी चित्रा नहीं, उसका नाना है। कौन-सा खाने-पहनने का अरमान पूरा हो सका उसका ? अरे, खाने-खेलने की उम्र में सब जोगने तो नहीं बन सकतीं'''जैसे सौदामिनी, तेरी मां यानी कि मेरी बेटी बनकर रह गई'''आह ! कैसा फूटा भाग लेकर आई सौदामिनी भी कि आज तक हम नहीं मरते। पहले बचपन में मेरे पापों की सजा भोगती रही, फिर अपने सत्व की, अभिमान की'''और अब अपनी बेटी चित्रा के

हक जाने की सजा भोग रही है···। पता नहीं, सौदामिनी की सजा कभी खत्म होगी या वह कपाल में आजन्म 'काला-पानी' लिखाकर लाई है···। मुझसे उसकी सजा देखी तक नहीं जाती, वह तो भोग ही रही है। प्रिया, अपने बाबा को एक वचन दे कि तू उसे कोई सजा नहीं देगी···सुख न दे सके, न सही और कोई दुख नहीं देगी···।' बाबा ने कांपते हाथ से प्रिया की हथेली पकड़ ली थी—हथेली बर्फ-सी ठंडी थी। बाबा घबरा गए—'क्या हुआ री, तेरी तबियत तो ठीक है, या मेरे कहे का बुरा मान गई? माफ कर दे मेरी बिटिया, इस सनकी, पागल बुड्ढे को माफ कर दे···जाने क्या-क्या बक गया···।'

और, कभी न रोने वाले नाना रोने लगे थे, हिचकियां ले-लेकर, 'बड़ा दर्द उभर आया है प्रिया, आज सहा नहीं जाता···।'

प्रिया दवा की शीशी उठा लाई, 'लाओ, दवा लगा दूं बाबा, फिर सेंक दूंगी, दर्द कम हो जायगा।'

नाना ने अपने आंसू पोंछ लिये, 'पगली, ये दवा वाला दर्द थोड़ा ही है, यह तो यहां का दर्द है, जिसके लिए दीवानी मीरा कह गई है—हे री! मैं तो दरद दिवानी मेरा दरद न जाने कोय···।'

नाना ने अपने हृदय पर उंगलियों से ताल देते सुर छेड़ दिये थे···प्रिया उन सुरों में डूबती बैठी रही, अचेत-सी बैठी रही—बिलकुल चुप, चुपचाप। नाना भी जाने कब चुप हो गए थे।

स्कूल से लौटकर सौदामिनी ने दोनों को इतना चुप देखा, तो हंस पड़ी, 'क्या नाना-नातिन आज दिन भर समाधि लगाये रहे! याद नहीं, आज प्रिया का जन्म-दिन है!' उंगलियों पर गिनकर बोली, 'आज नाना की लाड़ली पूरे सत्रह की हो गई···' फिर तेजी से जाती कहती गई, 'आ मिठाई नहीं ला पाई, चलूं, हलवा ही बना दूं···' प्रिया को लगा, मां ने खु उल्लास में, आंसुओं का कोई निर्मम सच फिर पा लिया है।

प्रिया चुपचाप रसोई के दरवाजे से टिकी देखती रही—मां तत्परता हलवा बना रही हैं स्टोव पर। स्टोव से तो कोई धुंआ नहीं निकलता, मां बार-बार आंचल से आंखें पोंछ रही हैं···वह अदृश्य धुंआ, प्रिया की आंखों में ही नहीं, मन में भी भर गया।

उस सारी शाम, रात तक, उस दो कोठरियों वाले घर में एक न चलता रहा···नाटक के तीनों पात्र समझना चाह रहे थे कि वे उल्लास

खुशी का सफल नाटक कर रहे हैं'''किन्तु तीनों यह भी समझ रहे थे कि उनका नाटक असफल हुआ जा रहा है'''उल्लास का नाटक, विषाद के सच को छिपा नहीं पा रहा था'''एक दूसरे से आँखें चुराते वे तीनों मुसकराने का, हंसने का अभिनय तब तक करते रहे, जबतक उनकी पलकों पर नींद का ही यवनिका-पात न हो गया।



सवेरे बाबा बहुत गंभीर थे। हाथ-मुंह धुलाते, चाय देते प्रिया ने सहज होना चाहा, 'क्यों बाबा, आज तुम्हारी भैरवी को क्या हो गया? सवेरा हो गया और तुम्हारी भैरवी चुप है'''क्यों?'

बाबा सचमुच गंभीर थे—किसी सोच में डूबे-से। धीरे से बोले, 'प्रिया, जरा सुन तो, तू बी० ए० पास तो हो गई। अब क्या जल्दी से कोई नौकरी नहीं मिल सकती?'

'लेकिन मां चाहती है, मैं एम० ए० करूं।' प्रिया ने भी धीरे से उत्तर दिया।

'लेकिन तेरा नाना, यह स्वार्थी बुड्ढा चाहता है कि अब जल्दी से तू भी कुछ कमाने लगे तो इस कोठरी में छतवाला पंखा आ जाय। क्या कहते हैं, अंग्रेजी में उसे, मेरी बी० ए० पास बेटी, बता!'

'सीलिंग फैन कहते हैं उसे। सच बताओ, बाबा, तुम क्या चाहते हो, सच में अपने लिए सीलिंग फैन?'

प्रिया नाना की आंखों में सीधे देख रही थी।

नाना ने आंखें झुका लीं, 'तुझसे छिपना मुश्किल है री! तेरी ये बड़ी-बड़ी आंखें 'सच' को सचमुच देख लेती हैं। मेरी आंखें छोटी थीं, शायद इसीलिए सच देर से दिखाई पड़ा।'

'मेरे प्रश्न का उत्तर दो बाबा, क्या चाहते हो तुम? तुम जो चाहोगे, मैं वही करूंगी।' प्रिया विह्वल हो उठी।

'तो सुन, मैं चाहता हूं कि कि अब तू कुछ कमाने लगे, तो सौदामिनी को कुछ आराम हो जाय। ऐसे तो मर जायेगी तेरी मां, मेरी अभागिन बेटी'''बस, ये बुड्ढा नहीं मरेगा'''' बाबा तड़प-से उठे थे।

प्रिया ने बाबा के ओठों पर हथेली रख दी, 'न बाबा, ऐसे मत बोलो, तुम अपने को कोसोगे तो मेरी-तुम्हारी कुट्टी हो जायेगी। बस, तुम ऐसे ही

सवेरे भैरवी, शाम को बागेश्वरी अलापते रहो, तो जो तुम कहोगे, मैं वही करूंगी।' प्रिया के ओंठ मुसकरा रहे थे, स्वर कातर हो उठा था'''। 'और चाहते हो, पक्की नौकरी मिल जाए तो बी० एड० कर लेती हूं। आजकल एम० ए० पास 'क्यू' में खड़े रह जाते हैं। बी० एड० नौकरी के मामले में ज्यादा 'श्योर' डिग्री है। तुमने ठीक कहा बाबा, अब मैं बी० एड० ही करूंगी। तुम चिन्ता न करो, जल्दी से जल्दी मां को आराम देने की कोशिश करूंगी'''लेकिन पहली तनखा मिलते ही सबसे पहले तुम्हारे लिए सीलिंग फैन लाऊंगी, यानी कि तुम्हारा छतवाला पंखा!' प्रिया ने अपना मुख बाबा के वक्ष में छिपा लिया'''वह मुख आंसुओं से भीगने लगा था'''बाबा ने आंसू पोंछने का कोई आग्रह नहीं किया, चुपचाप प्रिया का सिर सहलाते रहे''' एक आहत, कातर मौन कोठरी की घुटती फिजां में सिर पटकता रहा'''।



मां का स्कूल खुल गया था। प्रिया के कालेज खुलने में देर थी। उस दिन मां स्कूल जाते-जाते कहती गई, 'आज शाम तक निश्चय जरूर कर लेना बेटी कि किस 'सब्जेक्ट' में एम० ए० करना है? फिर शुभ दिन देख-कर फार्म भरवाऊंगी। अब कालेज भी खुलनेवाले हैं।'

शायद मां के कानों में नाना-नातिन-संवाद की भनक पड़ गई थी। शाम को स्कूल से लौटते ही मां ने प्रश्न किया, 'तो कुछ निश्चय किया प्रिया? किस विषय में एम० ए० करोगी! कब से सपना देख रही हूं कि मेरी बेटी एम० ए० हो।'

'पहले तुम चाय तो पी लो मां, फिर बताती हूं।' प्रिया, मां से नहीं, मां की चोटों से डरती थी। जानती थी, मां ने लगातार चोटें खाई हैं।

'नहीं, चाय बाद में पिऊंगी, पहले तू बता।' सौदामिनी चीख-सी पड़ी।

'प्रिया नहीं बताएगी, मैं बताता हूं। प्रिया एम० ए० नहीं, उसे क्या कहते हैं, बी० एड० करेगी''' ' बाबा अपनी कोठरी से चीखे।

'क्यों?' सौदामिनी झपटती-सी बाबा की कोठरी में पहुंची। पीछे-पीछे शान्त पगों से प्रिया आई—'हां, मां, मेरी एम० ए० करने की इच्छा नहीं। मैं बी० एड० ही करूंगी।'

'लेकिन तुझे एम० ए० करने में आपत्ति क्या है?' सौदामिनी कभी पिता को देख रही थी, कभी पुत्री को—समझ भी रही थी कि नाना-नातिन

ने कोई साजिश की है।

'बस इसलिए कि कौन दो साल एम० ए० की झख मारे। अब मेरा भी पढ़ाई में मन नहीं लगता। बी० एड० करूंगी, फिर नौकरी।' प्रिया का स्वर बिल्कुल शान्त था, स्थिर, एक निश्चय जैसा।

'नहीं, तू एम० ए० करेगी, फिर शादी, फिर चाहे लेक्चरर बन जाना।' सौदामिनी चीख़ी पड़ रही थी।

'तब तक तो यह स्वार्थी बुड्ढा मर जाएगा। अरे···मेरी खातिर प्रिया को जल्दी से नौकरी करने दे सौदामिनी, कि मेरा इलाज ठीक से हो सके। जीवन भर तू भी तो मेरे लिए यही चाहती रही है। अब प्रिया सयानी हुई, किसी लायक हुई है तो इस नालायक बुड्ढे का इलाज ठीक से होने दे कि यह बुड्ढा पूरे सौ साल जिए, चाहे तू मर जाए···।' बाबा के स्वर में व्यंग्य था जो छिपाए छिप नहीं रहा था, जैसे वे जोर-जोर से हंस रहे थे···इस हंसी में तो सीधे-सादे आंसू अच्छे! प्रिया बाबा की हंसी सह नहीं पा रही थी।

'अच्छा, समझी। तो बाप-बेटी ने इस अभागिन को छुट्टी देने की साजिश हुई है···लेकिन प्रिया, मेरा यह सपना मत तोड़, मत तोड़ कि तू एम० ए० करेगी, फिर शादी···मेरा सुख, मेरी शान्ति बन जाएगा बेटी।' सौदामिनी का स्वर कातर हो उठा।

'नहीं, मैं न एम० ए० करूंगी, न शादी। मैं तुम्हें और बाबा को नहीं छोड़ सकती, तुम दोनों से अलग नहीं हो सकती, नहीं, कभी नहीं···'प्रिया आर्त-नाद-सा कर उठी। उस रात न सौदामिनी ने खाना खाया, न प्रिया ने, न बाबा ने। और शायद तीनों ही रात भर करवटें बदलते रहे, सो नहीं पाए।

रात्रि के नीरव सन्नाटे में, वही आहत, कातर मौन मंडराता रहा···।

प्रिया ने बी० एड० 'जॉइन' कर लिया था, चोरी से पच्चीस रुपयों की एक ट्यूशन भी कर ली थी—एक छोटी बच्ची को 'कॉन्वेंट' में एडमिशन के लिए तैयार करना था। वह कॉलेज के समय में ही ट्यूशन 'एडजस्ट' कर लेती।

मां आहत-सी बहुत चुप हो गई थीं। बाबा कुछ ज्यादा ज़ोर से गाने लगे थे। प्रिया को लगता, बाबा भी आहत हुए हैं। मां अपनी चोटें, मीरा के विषपान-सी चुपचाप पिया करती—बाबा ने बताया था, बचपन से सौदामिनी की यही प्रकृति है।···जितनी चोटें खाती गई···और चुप होती गई।

'और तुम्हारी यह आदत है कि जितनी ज्यादा चोट लगती है, उतने ज़ोर से गाने लगते हो, क्यों बाबा, ठीक कहा न मैंने?' प्रिया ने शरारत से कहना चाहा, हंसना चाहा, किन्तु स्वर आर्द्र हो ही उठा।

'हा···हा···' करते बाबा ज़ोर से हंसे। 'तू बड़ी कम्बख्त है री, बाबा की सारी चोरी पकड़ लेती है। और कैसे न पकड़े—एक चोर दूसरे चोर के सारे भेद बहुत जल्दी समझ लेता है···और तू क्या कम चोर है। मैं जानता हूं, आजकल चिटिया रानी बस के पैसे बचा रही हैं, शायद कुछ पैसे जमा भी कर रही हैं।'

'बाबा, प्लीज, चुप हो जाओ···अगर मां यह सब जान जाएगी तो प्राण ही दे देगी। वैसे ही, मां जाने कैसी हुई जा रही है, चिड़चिड़ी, गुस्सैल, बात-बात पर नाराज होने लगती है। मुहल्ले वालों से उलझने लगती है। सुना, स्कूल में भी एक दिन बहुत चीखी-चिल्लाई थी···वो तो केशव अंकल हैं न, मां को संभाल लेते हैं। मां या तो चीखती है, या इतनी चुप हो जाती है कि लगता है मां है ही नहीं।'

'हां प्रिया, मुझे भी लगता है कि चित्रा के ऐसे चले जाने से सौदामिनी को असह्य चोट लगी है—इतनी, कि शायद वह होश खो बैठी है। केशव जी न होते, तो सौदामिनी कब की मिट गई होती। सचमुच, बहुत भले आदमी हैं, केशव जी। मैंने तो कहा भी था···' बाबा सहसा चुप हो गए।

केशव जी और मां को लेकर बात इतनी नाज़ुक हो उठी थी कि प्रिया मां के सामने उनका नाम लेने में भी डरने लगी थी। चित्रा के जाने के बाद, केशव जी का इतवार को घर आना बन्द हो गया था। मां ने ही मना कर दिया होगा, प्रिया समझ गई थी।



जन्माष्टमी को छुट्टी का दिन था। आकाश पर घने बादल घिरे थे—बूंदाबांदी भी हो रही थी। मां जन्माष्टमी को उपवास रखती है, लेकिन मन्दिर नहीं जाती। घर में ही भगवान कृष्ण के चित्र को दो-चार फूल चढ़ा देती है, अगरबत्ती की सुगन्ध को गहरी सांसों से पीती रहती है, इन दो-चार नगण्य-से फूलों को एकटक देखती रहती है···प्रिया वर्षों से देख रही है—मां जन्माष्टमी अपने-आप में डूबकर मनाती है, ऐसे ही। वैसे, मां नियम-बद्ध होकर प्रतिदिन पूजा नहीं करती। कभी-कभी अनायास कर लेती है। प्रिया समझ चुकी है, मां जब प्रार्थना-रत होती है—तो कोई ज़हर पीती होती है।

लेकिन, आज मां बिस्तर से उठ ही नहीं रही। प्रिया ने टोका तो बोली, 'सिर में दर्द है बेटी, हरारत-सी लग रही है और खिचड़ी खाने का मन कर रहा है।'

'किन्तु आज तो जन्माष्टमी है मां, उपवास नहीं रखोगी, अगरबत्ती नहीं जलाओगी···? बाबा कहते हैं, उपवास से मन को शान्ति मिलती है, शक्ति भी। फिर जन्माष्टमी का उपवास तो तुम्हारा नियम रहा है। प्रिया घबराने लगी थी···साफ़-साफ़ देख रही थी, मां बहुत असहज हो उठी है।

'नहीं करती, अब मैं कोई उपवास। मुझे न शान्ति की ज़रूरत है, न शक्ति की। कहा न, मैं बिलकुल ठीक हूं और अब तो खिचड़ी नहीं, हलवा खाऊंगी।' आज हम में से कोई भी उपवास नहीं करेगा, न तू, न तेरे बाबा। हम सब हलवा खाएंगे, चल, बेसन भी घोल। थोड़ी-सी पकौड़ियां भी तल लूं। कब से तुझे पकौड़ियां नहीं खिलाईं···मैं खिलाना भूली तो भूली, तू खाना क्यों भूल गई? क्यों नहीं मांगती तू मुझसे कुछ भी···क्यों मुझे 'अकिंचन' सिद्ध करने पर तुल गई है? चित्रा मुझे अपने ढंग से मार गई, तू अपने ढंग से मार रही है।' सौदामिनी छटपटाने लगी थी।

'मुझे माफ़ करो मां! माफ़ कर दो, पता नहीं, मैं भी कहां, क्या

कर रही हूं ?' प्रिया कातर हो उठी।

सौदामिनी झपटकर उठीं, प्रिया को कलेजे से भींच लिया, फूट-फूट कर रोने लगीं, रुद्ध आवेग आंसुओं में वह निकला। प्रिया उनकी पीठ थप-थपाती रही, आंसू पोंछती रही, आज सौदामिनी वेटी और प्रिया मां वन उठी थी।

जी भरकर रो चुकी सौदामिनी, शान्त होकर खाट पर लेट गई थीं··· आंसू रुक गए थे, किन्तु मुख पर एक गहन पीड़ा का भाव इतना सघन हो उठा था जैसे आकाश पर पूर्ण रूप से छाए स्याह मेघ···धूप का एक टुकड़ा भी कहीं नहीं था।

मां सहसा हंस पड़ीं। प्रिया चौंक गई। मां के आंसू स्वाभाविक थे, हंसी इतनी अस्वाभाविक कि प्रिया घवरा गई—'तुम्हारा जी तो ठीक है मां ? चलो, आज किसी डाक्टर से 'चैक-अप' करा दूं। तुम कमज़ोर हुई जा रही हो।'

'चल हट पगली ! मैं और कमज़ोर ? ला अपनी वांह ला, तू ही कनक-छड़ी सी दुवली-पतली है। निगोड़ी पर कभी तोला भर मांस नहीं चढ़ा। मैं तो इस उमर में भी पूरी डेढ़ मन की हूं। और हंसी तो मुझे एक वात पर आ रही है, तेरी एक वात पर, तेरे उस चार वर्ष की उम्र में पूछे गए सवाल का जवाव मैं आज तक नहीं ढूंढ़ पाई हूं—क्या विचित्र सवाल पूछा था तूने भी···' मां हंसे जा रही थीं।

'क्या पूछा था मैंने ? मुझे तो कुछ भी याद नहीं।' प्रिया भी मुसकराने लगी। शायद ये स्याह मेघ छंट जाएं···अर्थात् मां सहज हो उठे।

'वात ये थी कि पड़ोस में जो शुक्ला आण्टी हैं न, उनके नवां वच्चा होने वाला था। वे चीख-चिल्ला रही थीं, वच्चा होने का दर्द होता ही विकट है। तू दौड़ी-दौड़ी आई—मां, ये आण्टी चिल्ला क्यों रही हैं ?—मैंने कहा, उन्हें वच्चा होने का दर्द उठ रहा है। तुझे क्या, तू जा खेल। तू गई नहीं, फिर वोली—'क्या विना दर्द के वच्चा नहीं हो सकता ? क्या मैं पैदा हुई थी तो तुम्हें भी दर्द हुआ था···? और क्या जव मैं वड़ी होऊंगी, तो मुझे ऐसे ही वच्चा होगा, ऐसे ही दरद होगा···कहीं मेरी गुड़िया के भी वच्चा न होने लगे। तूने अपनी गुड़िया कलेजे से चिपका ली थी। मैं क्या जवाव देती तुझे, तू समझ भी क्या पाती ? नहीं, तेरी गुड़िया के कभी वच्चा नहीं होगा, जा खेल···' तू फिर भी खड़ी रही—और मुझे ? अरे

बाबा, तुझे भी तब होगा, जब तू दर्द सहने लायक हो जाएगी'''बाप रे, कैसी विचित्र लड़की है, सिर खा गई।'

'तू फिर भी अड़ी, खड़ी रही— 'फिर बच्चे होते ही क्यों है?' भला बता—क्या जवाब देती मैं तुझे'''अब तो तू सयानी हुई'''कोई उत्तर दे सकूं तो समझ लेगी। लेकिन तेरे उस प्रश्न का उत्तर मैं आज भी नहीं दे पाऊंगी? क्यों सहती है हर औरत मां बनने का यह दर्द? और फिर सारे दर्द सहकर भी सन्तान के लिए बावली क्यों बनी रहती है'''पता नहीं। तेरी इस शुक्ला आण्टी के पूरे नौ हुए, खाने-पहनने का जुगाड़ भी ठीक से बैठ नहीं पाता था। लेकिन उनके एक धनी, निस्सन्तान सम्बन्धी ने उनका केवल एक बच्चा गोद लेना चाहा, तो तेरी शुक्ला आण्टी ने ऐसी हाय-तोबा मचाई कि कुछ पूछ मत।'''

'लेकिन, मां बनने के पहले भी औरत को जाने कितने, कैसे दर्द सहने पड़ते हैं। विधाता ने बनाई ही क्यों यह औरत जात! इस मर्दों की दुनिया में सिर्फ मर्द ही होते तो अच्छा होता। ईंट का जवाब पत्थर से देते, निपटते रहते। लेकिन, फूलों-सी तन-मन वाली नारी, रूप और गन्ध से भरपूर कलियां, पुरुष के हाथों डाल से तोड़ी जाती हैं, पैरों-तले रौंद दी जाती है। पुरुष स्वयं ही समाज के कानून बनाते हैं, तोड़ते हैं, उनका कुछ नहीं बिगड़ता'''छली नारी ही जाती है, सजा भी वही पाती है। पुरुष, केवल पुरुष बना रहता है, नारी ही सती या कुलटा कहलाती है'''!'

प्रिया स्तब्ध-सी सुनती जा रही थी। देखा, छत को देखती मां की आंखें उसके मुख पर निबद्ध हो उठी हैं—'क्यों दिया इतना रूप विधाता ने तुझे प्रिया, जब तुझे मेरी कोख देनी थी। तेरा रूप ही तेरा दुश्मन न बन जाए। तेरा दमकता, निर्दोष रूप देखती हूं तो बड़ा डर लगता है—कहीं तेरे इस चांद से मुख पर कोई दाग न लग जाए'''। बहुत सम्भलकर चलना बेटी, एक बार भी पैर फिसला तो सम्भलेगा कोई ही, धक्के पर धक्के और मिलेंगे। तेरी इस अभागिन मां ने जरा-सी भूल ही तो की थी'''और जन्म भर की सजा पा गई'''चल, आज तुझे अपनी कहानी सुना ही दूं। सुनेगी'''?'

'प्रिया तेरी कहानी से पहले मेरी कहानी सुनेगी। कहानी क्रम से यानी कि सिलसिले से सुनाई जाती है, आरम्भ से अन्त तक, बीच से नहीं। प्रिया पहले नाना की पूरी कथा सुनेगी, फिर नाना की बेटी की, यानी कि अपनी

मां की···और तब तक प्रिया की अपनी कहानी भी शुरू हो ही जाएगी। ओ री प्रिया, नाना के सिर पर हाथ रखकर कसम खा, कोई कहानी शुरू तो नहीं कर ली है?' नाना दूसरी कोठरी से ज़ोर-ज़ोर से वोल रहे थे।

'ये बाबा भी, कान लगाए सब सुन लेते हैं···बिस्तर पर पड़े-पड़े सारे ज़माने की खबर रखते हैं···शायद 'एक्सरे' आंखें भी हैं इनकी—मजाल है कि बाबा की आंखों से कुछ छिप जाए···' प्रिया चिल्लाकर बोली।

सौदामिनी हंसने लगी थीं, 'तूने बाबा की 'एनालिसिस' बिलकुल ठीक की है प्रिया! तभी तो मैं चाहती थी तू मनोविज्ञान में एम० ए० करती, फिर डाक्टरेट करती। मेरी चांद-सी बेटी को सूरज-सा वर मिलता···फिर मेरे भी नन्हें-नन्हें नाती-नातिन होते, सितारों जैसे···।' प्रिया ने मां को इतनी भावुक कभी नहीं देखा था···वह तो ओंठ-कसे मां का सख्त चेहरा ही देखती आई थी···मां की आंखें भी सपनों में डूब सकती हैं—उसने पहली बार देखा। 'आज क्या तुम्हें भी बाबा की तरह कविता का दौरा पड़ा है मां···?' झेंपती प्रिया के गुलाबी कपोल लाल हो उठे। सौदामिनी मुग्ध-सी बेटी को अपलक देखे जा रही थीं···उन्हें भी लग रहा था, वे भी प्रिया को जैसे पहली बार ही देख रही हैं।

बाबा गाने लगे थे—

'कुंज कुटीरे, जमुना तीरे, बसत बसे वनमाली···'

'अरे ओ! मां-बेटी, आज इस बुड्ढे को कुछ दाना-पानी दोगी या नहीं, या भूखा-प्यासा मार देने का इरादा है? अच्छा है, आज जन्माष्टमी के दिन दम निकल जाये तो सीधे कृष्ण की रास-मंडली में बंसी बजाने का काम मिलेगा मुझे कृष्णधाम में। मैं क्या कन्हाई से कम अच्छी बंसी बजाता था···वो तो इस हाथ ने धोखा दे दिया, नहीं तो एक क्या, अनेक राधाएं आज तक मेरे चारों ओर चक्कर काटती होतीं। अहा। क्या रूप था राधारानी का ··। अन्धे सूरदास ने राधारानी का रूप-वर्णन करने में आंखवालों को मात दे दी—या राधारानी का रूप ही ऐसा था कि उसने अन्धे सूरदास को दिव्य दृष्टि दे दी थी···? प्रिया, चल इधर आ, और मेरी यह पहेली बुझा··· आज जन्माष्टमी के दिन यह पहेली बूझ दे तो कृष्ण भगवान मगन हो जाएंगे। आज सचमुच उपवास की कोई ज़रूरत नहीं···चल रे बुड्ढे, आज जी भर कर खा, फिर जी भर कर गा···क्यों री प्रिया, साथ देगी न आज मेरा···अपनी मां को भी मना ले कि वह एक दिन तो अपने बाप की बात

मान ले। हां तो, आज सुनो री इन दोनों कृष्ण-चन्दन के स्वागत पर राधा का रूप-वर्णन—

> देखन हरि निकसे ब्रज खोरी !
> औचक ही तहं मिली राधिका, नयन विशाल भाल दिये रोरी।

अहा! बिलकुल मेरी प्रिया जैसी होगी राधिका!...नयन विशाल भाल दिये रोरी...! बाबा सूर का पद उलट-पुलटकर मुक्त कंठ से अलापते रहे...!



शरद का आकाश उस दिन उज्ज्वल नीलाभ था। वर्षा के बाद प्रकृति में एक नया लावण्य आ गया था—निखरा-निखरा-सा! 'धूप यही है—किन्तु पीताभ रेशमी, जैसे कृष्ण का पीताम्बर हो...! यह उज्ज्वल नीला आकाश...जैसे कृष्ण स्वयं हों! और इन खिले उठे फूलों, से भरी धरती में राधा का रूप है,...इस मन्द पवन के झोंकों में राधा की सांसों की सुगन्ध है...है कि नहीं, बता!'

बाबा पूछ रहे थे, और सचमुच उस दिन शरद का आकाश निरभ्र नीला था, धूप पीताभ रेशमी। प्रिया की बगिया के गुलाब खिल उठे थे, रातरानी महकने लगी थी। प्रिया को भी लग रहा था जैसे प्रकृति की सांसों में सुगन्ध घुल गई हो—उसकी अपनी सांसों में भी...!

'हां बाबा, तुम बिलकुल ठीक कह रहे हो। आज आकाश कृष्ण बन उठा है, धरती राधा।' प्रिया की सांसें भी उच्छ्वसित हो उठी थीं। आंखों में सितारों-से सपने झिलमिलाने लगे थे।

'राधा नहीं, राधारानी कह, मैं तेरी नानी को सदा राधारानी ही कहता था, यद्यपि गांव वाले उस कुम्हार की छोकरी को रधिया कहते, रद्दो कहते...उसे जलती दृष्टि से देखते, अपमान करते...क्योंकि उस कुम्हार की छोकरी को इतनी रूपवती नहीं होना चाहिए था कि राजकुमारी लगे...! उस उद्दण्ड छोकरे रवि ने सबसे अधिक घड़े उसी के फोड़े थे। सोचता था इसका कुम्हार बाप एक घड़ा और बना लेगा, तो क्या बिगड़ जायगा? पता नहीं क्यों, रवि का निशाना राधा के घड़े पर बैठता भी खूब—फूटा घड़ा

धरती पर गिर कर फूटता, कभी राधा के सिर पर ही फूट जाता···राधा भीग जाती, आंखें तरेरती···'अब की फोड़ा तो बताऊंगी। 'क्या बताएगी, ठेंगा!' रवि ठेंगा दिखाता। राधा चुपचाप घड़े फुड़वाती रही, कभी किसी से शिकायत नहीं की, गालियां नहीं खिलवाईं। रवि ने उसके घड़े फोड़ने तब बन्द किये, जब गांव की एक ममतालु, चने-मुरमुरे बेचनेवाली बुढ़िया ने उसे अपना कपाल ठोंककर समझाया—अरे दुष्ट, क्यों तंग करता है उस कुम्हार की छोकरी को? बेचारी कितना पिटती है तेरे कारण, पर तेरा नाम नहीं लेती। ऐसा गुस्सैल है उसका बाप कि अगर राधा तेरा नाम ले दे तो वह तेरा कचूमर निकालकर रख देगा।'

'रवि ने यह सुना, तो उसका उद्दंड मन, पहली बार अपराधी-सा हो उठा। उसने राधा के घड़े फोड़ने बन्द कर दिये, उसे आते-जाते एकटक देखने लगा। एक दिन राधा ही भरा घड़ा लिये सामने आ खड़ी हुई—'क्यों रे, तेरी तबियत तो ठीक है? अब घड़ा क्यों नहीं फोड़ता?' रवि कोई उत्तर नहीं दे सका, बस। सिर पर भरा घड़ा एक हाथ से थामे, दूसरे से अमिया कुतरती, उस सांवली-सलोनी छोकरी को, उसकी हिरनी-सी आंखों को, उस के मोती-से दांतों को निहारता···! रवि की दृष्टि राधारानी की ठोड़ी के तिल पर अटक कर रह गई···पतले, गुलाब की पंखुरियों-से ओठों के नीचे, चिबुक के ठीक बीचोंबीच उस काले तिल पर। रवि बेवकूफ तो था ही, सोचता रह गया—'भला विधाता ने यह तिल इतना नाप-तोलकर कैसे बनाया? तुझमें और तेरी नानी में बस इतना ही अन्तर है कि विधाता ने तुझे वह तिल नहीं दिया—वरना वे ही हिरनी-सी आंखें, वे ही गुलाब की पंखुरी-से ओंठ, वही कोमलकंचन काया। हां, तू शुभ्र-वर्णा भी है, तेरी नानी श्याम-वर्णा थी···किन्तु उसका सांवला रंग, तेरे गोरे रंग से कम मोहक नहीं था। कई बार तुझे देखता हूं, तो भ्रम हो जाता है, कहीं तेरी नानी ही तो नहीं लौट आई है···!'

'लेकिन बाबा, मैं नानी-सी काली कहां हूं, मैं तो तुम्हारे शब्दों में शरद-चांदनी हूं···।' प्रिया ने मान का उपक्रम करते, मुंह फुला लिया।

'अरे नातिन, तेरी नानी को साबुन मिला होता, क्रीम-पाउडर मिला होता, तो हो सकता है, उजली हो उठती। लेकिन यह कुम्हार की छोकरी कई-कई दिन तक सिर्फ पानी से भी नहीं नहा पाती थी। उसके मलिन मुख, मैले कपड़ों को देखता मैं चिढ़ाता—क्यों री, नहाने से डर लगता है क्या?

अबकी बार आना पानी भरने, नदी में धक्का हो दे दूंगा, तभी नहाएगी। वह रुआंसी हो उठती—नहीं रे, ऐसा मत करना, एक ही साड़ी-जम्फर है मेरे पास। कभी-कभी अकेले में नहाती हूं, तुरन्त ये ही साड़ी-जम्फर धोकर सुखा लेती हूं। कभी-कभी गीले ही पहनने पड़ते हैं।

'ओह! पता नहीं, कितनी बार यह भीगी रही आई होगी, जब मैं इसके सिर पर ही घड़ा फोड देता था और ये नहा जाती थी'''।' रवि का जी चाहा, वह स्वयं अपने मुंह पर दो-चार थप्पड़ जड़ ले।

'क्यों, तेरा बाप तुझे एक साड़ी भी और नहीं दे सकता?' मैं जानता था, राधा की मां नहीं है, और तीन छोटे-छोटे भाई और हैं।

'बाप साड़ी क्या लायेगा, दारू जो पीता है। फिर हम पूरे पांच हैं, सेर-भर भात रांधना पड़ता है, तब भी कमी पड़ जाती है।' रवि देख रहा था—राधा की वह एकमात्र साड़ी भी फट चली है'''

प्रिया बाबा को एकटक देख रही थी। बाबा कभी प्रिया को देखते, कभी खिड़की से दिखाई देते शरद के नीले आकाश को। प्रिया देख रही थी, आज बाबा की आंखों में कई रंग आ-जा रहे हैं—कभी उनमें धूप-सी चमकती, कभी बादल-से घिरते, कभी शरद के आकाश की नीलाभा उनमें प्रतिबिम्बित हो उठती,'''कभी विषाद के स्याह अंधेरे घिर आते। बाबा की आंखें अब भी इतने रंग बदल सकती हैं, यह बाबा की जिजीविषा का प्रमाण था! कोई और आंखें होतीं बाबा की जगह, तो उनमें केवल स्याह अंधेरे स्थिर हो गए होते'''। प्रिया को बाबा पर गर्व हो आया—पता नहीं, बाबा '''उसके लुंज-पुंज अपाहिज बाबा, वर्षों से खटिया पर पड़े-पड़े भी उन रंगों की रक्षा कैसे करते रहे हैं—मृत्यु की सारी शर्तों के बावजूद भी इतने 'स्पन्दित' कैसे हैं?

'ले, मैं तो भूमिका ही बांधता रह गया, कहानी आगे चल ही नहीं रही'''चले कैसे, तेरे नाना के मन-प्राण आज भी तो तेरी नानी के चिबुक वाले काले तिल के सम्मोहन से मुक्ति नहीं पा सके हैं। बाप रे! कैसी जादूगरनी थी तेरी नानी भी कि कामाक्षी की सुन्दरियों के समान तेरे नाना को भी अपने जादू का पुतला बनाकर छोड़ दिया'''! और वैसा ही छोड़-छाड़ कर जाने कहां चली भी गई वह निर्मम जादूगरनी'''। अब जादू टूटे तो कैसे?' प्रिया ने देखा—बाबा की आंखों में सचमुच किसी जादू या सम्मोहन उभर आया था'''मोती-से आंसू भी झिलमिलाने लगे थे'''। प्रिया

त्ती रह गई—क्यों जीवन के सन्दर्भ आंसुओं के मोती को खारा पानी
ना देते हैं…जिन्हें पोंछने भी कोई हाथ यदा-कदा ही बढ़ते हैं…वरना ये
खारे पानी के कतरे रक्त-बिन्दुओं जैसे चुपचाप झरते रह जाते हैं…और
समय अपनी गति से चलता रहता है, संसार अपनी गति से…। मोती
खारा पानी या रक्त-बिन्दु…प्रिया बाबा के, मां के, स्वयं के आंसुओं को
'नाम' देना चाह रही थी…परिमापित करना भी…किन्तु असफल हुई जा
रही थी। उसे लग रहा था—मुसकानें परिमापित की जा सकती हैं, आंसू
नहीं।

बाबा की कहानी उस दिन 'सम्मोहन' में डूब कर रह गई। बाबा चुप हो गए थे···फिर कई दिन चुप बने रहे। प्रिया ने भी नहीं टोका। बाबा का यह 'सम्मोहन' उसे भी इतना सम्मोहित कर चुका था कि वह शरद के निरभ्र, नीले आकाश को घण्टों चुपचाप निहारने लगी थी, हवाओं में किन्हीं स्वरों को ढूंढने लगी थी···कदाचित् अपने भीतर-बाहर 'कुछ' तलाशने लगी थी। यह कुछ 'अपरिभाषित' था, प्रिया के लिए। बस, वह इतना समझ रही थी कि 'सम्मोहन' 'बाबा' के स्वर से उसके अन्तस् तक उतर गया है···।

उस रात शारदीया थी, शरद-पूर्णिमा की रात। माँ ने खीर बनाकर रात भर के लिए चांदनी में रख दी थी—'शरद-पूनो की रात, रात-भर उजली चांदनी में रखी खीर खाने से फिर साल-भर गर्मी का कोई कष्ट नहीं होता, आंखों की ज्योति बढ़ती है, ऐसी खीर स्वास्थ्य के लिए अमृत होती है—इसमें चांदनी का अमृत समा जाता है न, इसलिए।'

'यही खीर खिला-खिलाकर तो तेरी माँ ने मुझे अमर कर दिया है प्रिया! इससे कह, अब तो मुझे छुट्टी दे।' बाबा ने छेड़ा—'बाबा अमर हो गए हैं···तो कैसी 'मृत्यु' झेलते रहे हैं···' बाबा अब भी अपनी अमरता को कोसते, प्रिया हिलकर रह जाती।···

'और इनसे कह दे प्रिया, कि ऐसी छुट्टी की बात मुझसे न कहा करें··· क्या दुख दिया है मैंने तेरे बाबा को कि ये भी मुझे छोड़ जाने की धमकी दिया करते हैं।' सौदामिनी रुआंसी हो उठी

'अरे, अरे! सौदामिनी मेरी बेटी, माफ कर दे मुझे···यह धमकी नहीं, एक प्रार्थना होती है कि अब तो मुझे मुक्ति दे···! कब तक कैद में रखेगी? निर्मम बाप रे! पता नहीं, क्या सोचकर तेरा सौदामिनी नाम मैंने ही रखा था, बिल्कुल नाम सार्थक हो गया···सौदामिनी अर्थात् बिजली···। देख रही है न प्रिया, तेरी माँ कैसी बिजली-सी कड़का करती है···।' बाबा अट्टहास कर उठे। बाबा के ऐसे अट्टहास भी कैसे 'आंसू' छिपाये होते हैं, समझती प्रिया कांप जाती···।

'तो वर्षा नाम रखते, वर्षा-सी बरसती भी तो रहती है मां।' प्रिया ने हंसकर कहना चाहा, किन्तु मां की अनेक तकिया भिगोती रातें उसे याद आ गई थीं—जब वे अबोध प्रिया को वक्ष से चिपकाए चुपचाप सिसकती होती थी···सिसकियों का स्वर दबाती होती थीं कि कहीं बाबा न सुन लें···और फिर सवेरे से व्यस्तता का, सहजता का नाटक करने लगती थीं। शायद बाबा की वह अदृश्य कैद और मां का यह अदृश्य 'नाटक,' दोनों अन्तहीन हैं··· और प्रिया को भी एक सजा मिली है, नियति की ओर से, 'साक्षी' बने रहने की—मौन एवं असमर्थ 'साक्षीत्व' की।

'अब तुम दोनों नाना, नातिन बिजली, बिजली-वर्षा का फैसला रात-भर करते रहना, मैं तो आराम से सोऊंगी···सच में कैसी सुहानी रात है। सौदामिनी ने जैसे कोई निःश्वास दबा दी थी, किन्तु प्रिया ने उस निःश्वास को भी साफ-साफ सुन लिया था—कानों से नहीं, चेतना से। आंखों और कानों से अधिक प्रिया 'चेतना' से देखने और सुनने लगी थी—चेतना के स्तर पर कितने अनाम 'बोध' जागने लगे थे, अनाम और अपरिभाषित—हां, इन्हें अहसासों का नाम दिया जा सकता है, सत्रह वर्षों की तरुणी प्रिया अपने मन के एकान्त से कहती। स्थूल स्तर पर घटती हर क्रिया, सूक्ष्म स्तर पर प्रतिक्रिया बनने लगी थी···प्रिया की 'चेतना' सचेत हो उठी थी।

और सचमुच, उस रात मां ने प्रिया की कोठरी में घुसकर सांकल चढ़ा ली—'आज तू अपने बाबा के पास सो। मैं बहुत थकी हूं, जी भर कर सोना चाहती हूं। आज बाबा को तू संभाल लेना, आज उनका दर्द उभरेगा ज़रूर।'

'शायद आज मां का भी कोई दर्द उभरेगा···' प्रिया समझ गई थी।

'तो बाबा, चलो, आज अपनी कहानी सुना ही डालो। कहानी अधूरी मत छोड़ो। तुमने न जाने कितनी कहानियां मुझे सुनाई हैं पूरी-पूरी··· बस···अपनी कहानी अधूरी छोड़-छोड़ देते हो।' प्रिया कुर्सी खींचकर बाबा की खाट से सटाकर बैठ गई। खिड़की पूरी खोल दी, बिजली बुझा दी···खिड़की की राह मन्द, सुगन्धित पवन के झोंके और शुभ्र चांदनी के फूल उस साधारण-सी कोठरी में बिखरने लगे थे···प्रकृति और मानव के बीच, सुगन्ध और उजालों और इन्सान के बीच भी दुर्गन्ध और अंधेरों की कैसी दीवारें खड़ी हो जाती हैं···प्रिया 'उजालों' और 'अंधेरों' के अर्थ समझने लगी थी, स्थितियों और नियति की सीमाएं भी।

'गनीमत है कि धूप और चांदनी पर अभी दुनिया वालों का वश नहीं···वरना वे हम जैसे गरीबों का यह आधार भी छीन लें।' बाबा ने एक बहुत गहरी निःश्वास ली···स्वर में कराह उभर आई थी।

'हां तो, कहां तक पहुंची थी कहानी, चिड़िया रानी, देखूं तो, तुझे कितना याद है?' बाबा मजाक में मुस्कराए।

'बाबा, मुझे 'चैलेंज' मत किया करो, हार जाओगे। जानते हो, किस नाना की नातिन हूं···? उन नाना की, जो निरन्तर एक शस्त्रविहीन युद्ध करते रहे, पल-पल सामने खड़ी मृत्यु से, और फिर भी नहीं हारे···। बल्कि मृत्यु आती भी है तुम्हें ले जाने के लिए, तो तुम्हारी 'वंशी' सुनकर मुग्ध होती लौट जाती है···तुम क्या अब भी कृष्ण जी से कम मधुर वंशी बजाते हो।'

'अरे वाह री पगली···। इन अपाहिज हाथों में वंशी को ओठों तक ले जाने की सामर्थ्य जाने कब से नहीं रही, और तू कहती है, मैं अब भी वंशी बजाता हूं···!' नाना हंसे।

'पागल मैं नहीं, तुम हो बाबा, जो स्वयं अपनी वंशी की ध्वनि नहीं सुन पाते! तुम बांस की बांसुरी नहीं बजा पाते हो, सच है, लेकिन मन की वंशी पर जो निरन्तर स्वर छेड़ा करते हो···जो तुम्हारी ओठों से, कंठ से निरन्तर फूटते रहते हैं···'

'ओह प्रिया! मेरी लाडली, इस अभागे बाबा का एकमात्र गौरव तो बस तू है। ले, तू जीती, मैं हारा। अपनी ही वंशी की ध्वनि मैं नहीं सुन पाता हूं, और तू सुन लेती है···। ठीक कहती है तू, शायद बुढ़ापे के कारण बहरा हो गया हूं, सठिया तो गया ही हूं, बस गूंगा नहीं हो पाया।'

'अब यह सब बन्द करो बाबा, बस कहानी सुनाओ, केवल कहानी, अपनी और मेरी नानी की···'

'अर्थात् राधारानी की···। यह कहानी तेरे नाना से अधिक तेरी नानी की है, जो कहानी को अधूरी छोड़कर, बीच में से ही उठकर चली गई··· भला कहानी के नियम के अनुसार ऐसे भी कोई जाता है···। क्या अधिकार था राधा को ऐसे चले जाने का? हां, क्या अधिकार था उसे मुझे अकेले छोड़ जाने का···?' बाबा का कंठ रुद्ध हो उठा।

'उफ़ बाबा, भूमिका बहुत हो चुकी, अब कहानी सुनाओ। देखो मैं बताती हूं, कहानी कहां तक पहुंची थी, जब उस उद्दण्ड आवारा रविशंकर ने कहानी

पकड़ने की वंसी तोड़कर फेंक दी थी, किन्तु स्वर पकड़ने की वंशी चाहकर भी नहीं तोड़ पाया था···जब उसने राधारानी के घड़े फोड़ना एकदम बन्द कर दिया था···और भूखा-प्यासा भी तब तक पड़ा रहता जब तक दम ही नहीं निकलने लगता···इतनी बड़ी दुनिया में बिल्कुल अकेला था वह···और दुनिया बड़ी निर्दयी थी···। ठीक···?' प्रिया का कंठ भी रुद्ध हो उठा।

'अरे, तुझे तो सचमुच सब याद है, एकदम याद है।···' बाबा हंसे, गम्भीर हो गए, 'दुनिया तो सदा की निर्दयी रही है री। भीड़ से घिरे भी हम अकेले होते हैं—अपने सुखों में नहीं, केवल दुःखों में ही। और शायद दुःख कितने भी हों, आदमी को नहीं मार पाते, दुःख का अकेलापन मार जाता है···हां तो, भूख और प्यास नहीं, यही 'अकेलापन' सत्रह वर्ष के रविशंकर को मारने लगा था—जो न रवि था, न शंकर। नियति के धक्के खाता, समाज के तिरस्कार सहता, वह बेबस छोकरा मरने लगा था···बस, कहीं उसकी मन की वंशी में उस कुम्हार की छोकरी की मछलियों-जैसी आंखें अटक गई थीं···। उन 'मछलियों' के ध्यान में वह भूख-प्यास भूल जाता···नदी-किनारे बैठा मुग्ध भाव से मछलियां गिनता रहता और उनमें दो और जोड़ देता···'

प्रिया को हठात् याद आता, मनसिज भी तो कहता है—'इन मछलियों में दो और जोड़ दिया करो।'

प्रिया के लिए यह अकल्पनीय था कि उससे भी कोई कहेगा, 'तुम तालाब के किनारे बैठी-बैठी मछलियां गिनती रहती हो न? तो उनमें दो और जोड़ लिया करो, अपनी आंखों की···।' ठीक बाबा के शब्द, मनसिज ने कैसे चुरा लिये!

'तभी गांव में भुखमरी फैली, फिर महामारी। उस साल वर्षा बिल्कुल नहीं हुई थी। कुएं-तालाब सूख गए थे, हां, नदी में पानी था, लेकिन वह भी जहरीला हो गया था। उसमें डोंगी चलाई जा सकती थी, उसे पिया नहीं जा सकता था···और गांव वाले प्लेग में चूहों के साथ पटापट मर रहे थे, जो बच पाया वह गांव छोड़कर भाग गया। पहले राधा का बाप मरा, फिर तीनों भाई···एक दोपहर वह गिरती-पड़ती नदी तक आई तो उसे भी ज्वर था। 'रवि, मेरा कोई नहीं रहा···रवि, अब मेरा कोई नहीं है···' फूट-फूटकर रोती वह नदी में छलांग लगाने जा रही थी कि रवि ने उसकी तपती बांह कसकर थाम ली। रवि ने इतना भी नहीं कहा—'मैं तो हूं!' बस,

बेचैन होती राधा को थामकर, साथ ले, एक हाँडी में से खाना। हाँडी सजाना उसे आता था। मछली पकड़ना, बंसी बजाना और हाँडी सजाना, बस, इतनी ही तो काबलियत थी, उस निकम्मे में।'

'नहीं बाबा, तुम भूल रहे हो'''और कोई काम उस निकम्मे की समझ में न आता हो, लेकिन कविता इतनी समझ में आती कि यदि भाग्य ने साथ दिया होता, तो वह कालिदास बन सकता था, रवीन्द्रनाथ टैगोर भी बन सकता था'''।' प्रिया की दृष्टि आर्द्र हो उठी थी, स्वर कम्पित।

'हां, हां, क्यों नहीं, और उसे 'नोबेल प्राइज' भी मिल सकता था, क्यों?' बाबा ने स्वर पर एक निर्मम व्यंग्य किया, 'साला, निखट्टू किसी काम का होता, तो क्या राधारानी ऐसे मर जाती, पेट-भर अन्न के अभाव में, फिर दवादारू के अभाव में। कविता से कहीं पेट भरता है'''। पेट तो दो मुट्ठी भात से भरता है और यदि वह दो मुट्ठी भात न जुट पाए, तो राधा मर जाती है, कालिदास भी मर जाता है। आत्मा के सुख से बड़े ये देह के सुख होते हैं—भूख के, प्यास के सुख! प्रेम से कहीं पेट भर पाता है, या प्यार से क्या प्यास बुझाई जा सकती है'''?

'अमर प्रेम, महान प्यार।'''सब साले भरे पेटवालों के चोचले हैं। तीन दिन प्रेम में, फाकों कि ठण्ड में, भूखा मरना पड़े तो सौ में से निन्यानवे मजनूं अपनी लैलाओं को छोड़कर भाग गए होंगे। लेकिन जो प्रेम भूख-प्यास को झेलकर एक हो उठता है, रोग-शोक में एकात्म हो उठता है वह सचमुच कभी नहीं मरता'''! शायद प्रेम की परिभाषा है उसका निःस्वार्थ होना, अयाचित दिए जाना, निरवधि लिये जाना! किन्तु फिर ऐसा प्रेम धरती का नहीं, स्वर्ग का होता होगा'''और यदि कभी यह असम्भव सम्भव हो उठे तो धरती पर स्वर्ग उतर सकता है उतर आता है'''।' लैला-मजनूं पर व्यंग्य करता बाबा का स्वर, आर्द्र, तरल कम्पित भी हो उठा।

'शायद यही स्वर्ग तुमने धरती पर नानी के साथ उतार लिया था, क्यों बाबा?' प्रिया के ओंठों से प्रश्न पर, यह व्यंग्य नहीं, वह आर्द्रता उतर गई।

'अरे, नहीं री, कहां का स्वर्ग! तेरी नानी ने तो जो-जो मेरे साथ नरक ही भोगा—दुखों का, अभावों का। हां, मरने के बाद उसे अवश्य स्वर्ग मिला होगा, मुझे विश्वास है। ऐसी प्रेम की प्रतिमाएं धरती पर कहां ठहर

सकती हैं। वे खंड-खंड हो जाती हैं या कर दी जाती हैं। यह संसार तो उनके लिए नरक ही होता है। और स्वर्ग, शायद उस स्थान का नाम है, जहां ये प्रतिमाएं स्थापित की जाती हैं, सितारों के बीच, मृत्यु के पश्चात्…! कभी-कभी मुझे रात को नींद नहीं आती, तो मैं तारों-भरे आकाश में तेरी नानी का तारा ढूंढ़ा करता हूं। जरूर वह कोई तारा बन गई होगी ! बाबा के शब्दों में किसी बालक का-सा अबोध विश्वास उतर आया।

'तुम भी बाबा, दो अलग बातें एक साथ करते हो, अभी 'प्रेम' को गालियां दे रहे थे, अभी नानी को तारा बना रहे हो ! अरे तारे तो इस पृथ्वी-जैसे ही 'लोक' होते हैं…जैसे चांद भी अब केवल कवि की कल्पना की चीज़ नहीं रह गया…विज्ञान के बल पर मनुष्य चांद तक पहुंच चुका है।' प्रिया जाने क्यों तर्क कर बैठी। शायद वह बाबा को बताना चाहती थी कि वह भी जीवन-जगत् के यथार्थ को समझने लगी है, केवल हृदय ही नहीं बुद्धि भी रखती है, और इस बुद्धि की तुला पर सच्चाइयों को तोलना भी सीख रही है।

'अरे बाप रे ! मेरी नातिन तो सचमुच अक्ल की बातें करने लगी है…! भगवान करे, यह दिल के अनुसार कम, दिमाग के हिसाब से ज्यादा चले, तभी शायद इस हृदय-हीन दुनिया से पेश पा सकेगी…केवल दिल की कहने-सुननेवालों को तो यह दिल-विहीन दुनिया पागल बनाकर रख देती है। शरीर-विज्ञान के अनुसार तो दिल केवल एक मांस-पिंड है, फिर क्यों यह कोमल क्षणों में जोर-जोर से धड़कने लगता है, और कठोर क्षणों में कभी-कभी धड़कना बन्द कर देता है ? तू तो बी० ए० पास है, बता, मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे…! तू तो इतना पढ़-लिख गई है, तेरा नाना तो तेरे मुकाबले में सचमुच बेवकूफ है !'

'न-न बाबा, तुम गलत समझे या मैं ही गलत तर्क कर बैठी। मैं बी० ए० की डिग्री भले ही ले चुकी होऊं, लेकिन अगर तुम बेवकूफ हो, तो मैं तुमसे ज्यादा बेवकूफ हूं…पता नहीं क्यों, मुझे भी यह सब-कुछ एक पहेली लगता है, एक चक्रव्यूह-जैसा, जितना सुलझाना चाहती हूं, उतना ही उलझ कर रह जाती हूं। न मुझे कविता सच लगती है, न विज्ञान। पता नहीं 'सच' क्या है ?' बी० ए० में प्रिया का एक विषय फिलॉसफी था और उसे फिलॉसफी में डिस्टिंक्शन मिला था।

'सच तो हम-तुम भी नहीं हैं बेटी ! सब-कुछ जैसे एक भ्रम है, माया

है या एक मरीचिका है···मरीचिका के भ्रम में दौड़ता-दौड़ता मृग प्यास से तड़प-तड़पकर मर जाता है···किन्तु मृत्यु से जूझती उसकी आंखों को बार-बार धोखा खाकर भी लगता रहता है—पानी सामने ही तो है! शायद यह चिर-अतृप्ति ही एकमात्र सच है···! तृप्ति की कामना केवल मरीचिका···! कभी-कभी कुछ क्षणों के लिए पानी मिल भी जाये, लेकिन 'प्यास' तो फिर लगती है···फिर-फिर लगती है, तृष्णाओं की, कामनाओं की चिर-अतृप्त प्यास!'

'बाबा, फिलॉसफी में तो तुम्हें डॉक्टरेट मिलनी चाहिए, लो, मैं तुम्हें देती हूं यह डॉक्टरेट, इसे स्वीकार करो!' प्रिया ने बाबा का अपाहिज हाथ अपनी हथेलियों में भर लिया···सोचती रह गई, काश, जिन्दगी बाबा के प्रति इतनी निर्मम न रही होती···तो सचमुच उसके बाबा रवि ठाकुर होते! बाबा के नक्शों में बचपन से, 'गीतांजलि' ही तो होती है! किन्तु जिन्दगी ने या नियति ने, उसके अभागे बाबा को महाकवि रवि ठाकुर के समान तीर पर तैरती नावों का स्वामी नहीं बनाया, अपाहिज बनाकर हहराती लहरों में फेंक दिया···! फिर उसके बेबस बाबा उन लहरों में गोते खाते रहे, किनारों से टकराते रहे। न लहराती लहरों को उन पर दया आई, न पथरीले किनारों को···' प्रिया के कपोलों पर आंसू बहने लगे।

'अरे, मुझे संभालती तू ही रोने लगी—! अपने ये आंसू पोंछ ले बेटी, मुझसे नहीं देखे जाते। और सुन, आगे की कहानी, अब यह कहानी समाप्त हो ही जानी चाहिए···कौन जाने, फिर समय मिले, न मिले।' बाबा की आंखें भी छलछलाईं, पर नहीं, बाबा ने ये आंसू भीतर लौटा दिये थे।

प्रिया जानती है, आंसू बहाना सहज होता है, आंसू पी जाना बहुत कठिन···! और उसके दुर्बल बाबा, भीतर कहीं इतने सबल हैं कि जीवनभर आंसू पीते रहे हैं। सिसकियों को नकारते, भैरवी और बागेश्वरी के स्वर छेड़ते रहे हैं, और अपने 'शस्त्रविहीन युद्ध' में भी हारे नहीं, विजयी हुए हैं।···यद्यपि उनकी उस 'विजय' का अर्थ किसी को समझाया नहीं जा सकता। संसार की दृष्टि में विजय और पराजय के अर्थ निश्चित होते हैं, किन्तु अंतस्, अदृश्य स्तर पर भीतर की एकान्तिकता में जो हारा मान लिया गया है, वह सदा-निर् 'अपराजेय' होता है···और भारी विजयों का विजयी कभी-कभी वास्तव में पराजित हो उठता है···। सिकन्दर महान् ने आधी से अधिक दुनिया जीत ली थी, फिर भी मृत्यु के क्षणों में वह कितना पराजित था!'—इतिहास

साक्षी है, उसने अन्तिम क्षणों में कहा था—'कफन से पूरा ढंकने के बाद, मेरे खाली हाथ खुले रहने देना ताकि संसार देख ले, महान् विजेता सिकन्दर भी खाली हाथ ही जा रहा है…!' दुनियावालों के द्वारा सलीब पर चढ़ा दिये गए ईसा, हरा दिये गए ईसा भी तो अपराजेय होकर रह गए—इति-हास उसका भी साक्षी है। विषपायिनी मीरा के स्वर अमर होकर रह गए…गांधी गोली खाकर भी कहां मरे!

प्रिया, बाबा में सूली पर टांगे जाते ईसा को देख रही थी—जिन्दगी की सूली पर टंगे बाबा के हाथ-पैरों में जाने कितनी अदृश्य कीलें ठुकी हुई हैं!… और उनके अदृश्य घावों से अदृश्य रक्त झरता रहा है…अब भी तो झर रहा है…और शायद बाबा की अन्तिम सांस तक झरता ही रहेगा! प्रिया ने कसकर पलकें मूंद लीं, वह बाबा के उस सलीब पर चढ़े ईसा-जैसे रूप को अपनी आत्मा के फलक पर अंकित कर लेना चाहती थी…झरते रक्त से बाबा के चित्र में रंग भर लेना चाहती थी…।

नाक के पास कान लगाकर सांसों की आवाज सुनी, शरीर टटोला, गर्म था—राधा मरी नहीं थी और ज्वर भी उतर चला था…

'रवि ने राधा के मुख पर ठंडे पानी के छींटे दिये, राधा ने आंखें खोलीं, कराही—बड़ा कष्ट है ! लेकिन तू कौन है, कहां ले आया है मुझे—। दूसरे क्षण ही उसकी बड़ी-बड़ी आंखें पूरी खुल गईं—अरे, तू तो रवि है। मेरे घड़े फोड़नेवाला।—राधा की मुसकान इतनी करुण थी कि रवि ने आंखें फेर लीं—अब क्या करूं, इसके लिए ? वह लगातार सोच रहा था।

'क्यों भाई डोंगी वाले, ये थैले उस पार उतार देगा ?' दो थैलों में सब्जियां भरे कोई पूछ रहा था। भोर की किरनों के साथ रवि की आंखों में आशा की किरनें भी फूट पड़ीं…! अनायास ही डोंगी से सामान उस पार उतार देने का काम उसे मिल गया था—जरूर भैया, चलो बैठ जाओ, जो दोगे ले लूंगा, बस, जल्दी चले चलो—भूखे-प्यासे रवि के हाथों में जाने कहां की ताकत आ गई थीं, वह फिर तेजी से डोंगी चलाने लगा था, यद्यपि बांहें इतनी थक गई थी कि कन्धों से उखड़ी-सी जा रही थीं।

'यह छोकरी कौन है रे ?—उसका पहला ग्राहक राधा के सम्बन्ध में उससे पहला प्रश्न कर रहा था। रवि फिर कांप गया—अब यह प्रश्न अनेक करेंगे और राधा ज्वर के झटके से बच भी जाय, ऐसे प्रश्नों के प्रहारों से अवश्य मर जाएगी…नहीं, नहीं, वह राधा को मरने नहीं देगा…कांपता रवि सहसा स्थिर हो गया—मेरी बहन है, उस गांव में महामारी फैली थी न, तो सब मर गए, सिर्फ हम दोनों बचे हैं।—इतना बड़ा झूठ, वह ऐसी सहजता-से कह गया कि उसे स्वयं पर आश्चर्य हो आया ! वह सच-मुच अपने को बेवकूफ समझता था, एक ही रात में उसे इतनी अक्ल कैसे आ गई कि औरों को बेवकूफ बनाने लगा…! क्या वह कोई पाप कर रहा है ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं—ऐसे झूठ, सच से बड़े होते हैं…। किसी के प्राण बचानेवाला झूठ उस सच से बड़ा होता है, जो किसी के निर्दोष प्राण ले ले !' रवि के मन में कोई कह रहा था, शायद मां ऐसा ही कुछ कहती थी—रवि की बहकी चेतना होश में आने लगी थी…राधा के पीले मुख को बार-बार देखता, वह दुनिया से लड़ने की, साम, दाम, दंड, भेद—किसी भी प्रकार, राधा की रक्षा करने की कसम खा बैठा था—रवि, सोच तो, क्यों आफत मोल ले रहा है ? मर जाने दे न राधा को, तू अपनी जान बचा—रवि ने ऐसा कहते अपने स्वार्थी मन को दो-चार तमाचे ऐसे जड़े कि

सच-झूठ के चक्कर खाता मन सच को पहचान कर चुप हो गया। 'हां, अब वह एक नहीं, हजार झूठ बोलेगा। चाहे जैसे हो, वह राधा को मरने नहीं देगा।'

'उस पार डोंगी से थैले उतारते उद्दंड रवि का स्वर इतना विनम्र हो उठा था। उसे फिर स्वयं पर आश्चर्य हो आया'''यहां कोई वैद्य-डाक्टर है भैया जी? बड़ी कृपा होगी, पता बता दें तो इसके लिए दवा ले आऊं।'

'पहले इसे किसी छांह में लिटा, या डोंगी में पड़ा सिकने देगा, फिर कस्बे के सरकारी अस्पताल से दवा ले लेना। ये ले अपनी मजदूरी।— रवि के हाथ में अठन्नी टिकाता वह किसी थैला ढोनेवाले को पुकारने लगा था। रवि ने देखा—वह भी कोई बाबू नहीं था। एक मामूली किसान था, शायद सब्जियां उगाता था, बेचता था। एक थैला उसने स्वयं पीठ पर लाद लिया था'''रवि ने तत्परता से दूसरा थैला लाद लिया, 'दूसरा मैं उठाये चलता हूं। बड़ी कृपा होगी, दो-चार आने और दे देना।'''अच्छा चल, तू ही ले चल''' कहता वह चलने लगा था। रवि ने कन्धों से उखड़ी पड़ती बाहों से वह वजनदार थैला भी उठा लिया था'''दो-चार आने के लिए''' या राधा के लिए? 'मैं अभी आया री, बिलकुल गया और आया, अब तू अच्छी हो जायगी, जरा सबर रखना, घबराना मत, बस, मैं गया और आया'''राधा के कानों में कहता रवि थैला लादकर चलने लगा था। रवि ने एक बार मुड़कर देखा, राधा पूरी आंखें खोले उसे जाते देख रही थी। रवि के थके पैर दौड़ने लगे थे। उसे अपने चारों ओर केवल राधा की वे बड़ी-बड़ी आंखें दिखाई दे रही थीं। बाकी होश वह भी खो चुका था। यन्त्रणाओं के एक चरम बिन्दु पर पहुंचकर राधा अचानक उसके बहुत निकट आ गड़ी हुई थी। उन मछलियों-सी रेत पर छटपटाती आंखों को वह पानी देगा, अवश्य देगा, कि वे मछलियां जी उठें, उन मछलियों को वह प्राण रहते मरने नहीं देगा! राधा'''मछलियां'''दवा'''पथ्य'''रवि के तन-मन की सारी दौड़ राधा पर केन्द्रित हो गई थी'''! सचमुच वह अपनी भूख-प्यास भूल चुका था'''शायद स्वयं का होश भी खो चुका था'''उसके कानों में, प्राणों में केवल एक नाम बजने लगा था'''राधा'''राधा'''राधा'''! विष्णु-सहस्रनाम उसने पंडित जी से पिटकर भी नहीं सीखा था'''यह राधा-सहस्र-नाम का पाठ जाने क्यों, कैसे करने लगा मैं!' रवि को हंसी आ गई— यह कुम्हार की छोकरी जादूगरनी है शायद, मुझे गधा बना दिया—पूरा

गधा···। पीठ पर लदे बोझ के कारण रवि अपनी तुलना गधे से करने लगा था—यह बात वह राधा से कहेगा, तो कितना हंसेगी? कैसी झकाझक बत्तीसी है साली की, कि बस हंसती है तो मोती-से बिखर जाते हैं—गधा···साली···मोती···मछलियां···वाह! क्या जोड़ा बैठा है!' पपड़ाये प्यासे ओठों पर जबान फेरता रवि मन ही मन में हंस पड़ा था—इससे अधिक उस बेवकूफ की समझ में आ भी क्या सकता था—? सहसा बोझ उतारता, मज़दूरी के पैसे गिनता रवि चौंका···यह कुम्हार की छोकरी तो जाने कब से उसके मन में बसी हुई थी—यह भी तो उसे अब समझ में आया है। कुल्हड़ में चाय पीता, ज़रा-सा सुस्ताना रवि, सहसा समझ गया था कि अब राधा से पीछा छूटना मुश्किल है! सुन्दर भी तो कितनी है, कम्बख्त को जमींदार के घर जनमना चाहिए था, जनमी कुम्हार के घर, अभागी।—मुग्ध होता रवि चाय पीना भूल गया, चाय वाले ने आवाज़ लगाई।—अबे ओ अफीमची, किसी पीनक में है क्या···? चाय तो पी ले, ठंडी हो जायेगी।—चाय तब तक सचमुच ठंडी हो चुकी थी, हां, रवि की शिराओं में बहता रक्त गर्म हो उठा था!

'राधा···रवि···मृत्यु···ज़िन्दगी···समाज···दुनिया···पैसा···भूख···तिरस्कार···ठोकरें···धिक्कार—अनेक शब्दों के बीच रवि का चक्कर खाता तन-मन धीरे से एक शब्द पर टिक गया था—शायद वह शब्द 'प्यार' था। उस 'प्यार' का अर्थ समझने में अभी देर थी···अभी तो बस वह रवि की भटकन का एक लक्ष्य बन गया था···हां 'राधा' और 'प्यार' शायद एक ही चीज़ के दो नाम हैं···! वह बेवकूफ, उद्दंड, आवारा छोकरा इतना···केवल इतना ज़रूर समझ गया था···बरबस समझ गया था···।'



रवि की आंतों में भूख नश्तर चुभो रही थी। हाथ में आये पैसों को गिनता वह सोच रहा था—भरपेट खा ले, लेकिन तब राधा के लिए···न, न, अभी राधा के लिए दवा लेनी है, कम से कम एक पाव दूध लेना है। भूख तो उसे इतनी लगी थी कि वह पूरी दर्जन रोटियां खा सकता था···किन्तु एक ढाबे में केवल दो रोटियां खाकर उसने बाकी पेट पानी से भर लिया। राधा के लिए पाव-भर गर्म दूध कुल्हड़ में लेकर चलता रवि अनोखी तृप्ति से भर उठा था···। एक आने के मुरमुरे भी ले लिये। कहीं दूध ठंडा

न हो जाय, रवि दूध को छलकने से बचाता, तेजी से चलने लगा था। उसके मन में अनोखी तृप्ति ही नहीं, उसके थके कदमों में एक अनोखी गति भी आ गई थी'''जाने कितनी भीतर-बाहर की मौतें देखने के बाद, वह फिर जिन्दगी के किसी अहसास से स्पन्दित हो उठा था'''। उसकी तृप्ति, उसकी गति, उसके फिर से जाग उठे स्पन्दन, एक ही नाम रटने लगे थे—राधा'''राधा'''राधा'''।'''विष्णु-सहस्रनाम का पाठ न सीखने पर पंडित जी से बेंत खाता वह ब्राह्मण का छोकरा, एक कुम्हार की छोकरी के नाम का पाठ करने लगा था'''राधा सहस्रनाम का। रवि को बड़ी जोर से हंसी आ गई, बाप रे! पंडितजी ने क्या कस कर बेंत लगाई थी'''अरे नालायक, ब्राह्मण का बेटा है, कुछ पूजा-पाठ करना ही सीख ले तो पेट भरने का जुगाड़ हो जाय। तेरी मां तो ब्राह्मणी होकर भी जूठे बासन तक मांजती रही है। तुझे उस पर दया नहीं आती। अरे, किसी लायक बन जा तो तेरी अभागिन मां कम से कम चैन से तो मर सके। पंडित जी चीखा करते।'''लेकिन मां न चैन से जी सकी, न चैन से मर सकी, जाने कितने लांछन चुपचाप सहती, एक दिन अचानक बिलकुल चुप हो गई थी। रवि विष्णु-सहस्रनाम का पाठ तो क्या सीखता, भगवान के नाम पर जल उठता था। मन्दिर के सामने प्रणाम की मुद्रा में एक बार भी सिर बिना झुकाये, उसे आकाश की ओर ही उठाये, निकल जाता—कौन सी दया की है इस भगवान ने मुझ पर, जो उसे सिर झुकाऊं? ईश्वर निर्दयता का पर्याय लगता है।—इस पाखंडी दुनिया का भगवान भी पाखंडी है।—रवि मन ही मन भगवान पर पत्थर फेंकता रहता।

'लेकिन आज, उस अनजान कस्बे के एक खंडहर-से मन्दिर के सामने, रवि के पैर बरबस रुक गए'''हाथों में तो दूध का कुल्हड़ था, मुरमुरे का ठोंगा था'''वह हाथ नहीं जोड़ सकता था'''उसने जीवन में पहली बार, ईश्वर के प्रति प्रणाम में हल्का-सा सिर झुकाया—भगवान! यदि वास्तव में तुम कहीं हो तो राधा को बचा दो! राधा को, केवल राधा को मुझसे मत छीन लेना। और अगर राधा को भी छीन लिया तो'''तो'''ईश्वर के प्रति उसका प्रणाम, प्रतिशोध में मुट्ठियां कसने लगा था।

'दौड़ता-सा रवि घाट पर पहुंचा तो देखा, राधा उठकर डोंगी में बैठी, नदी के प्रवाह को देख रही है,—शायद लहरें गिन रही है या मछलियां, लेकिन इस बुद्धू छोकरी को दस से ज्यादा गिनती भी नहीं आती होगी, सबसे

पहले इसे सौ तक गिनती सिखानी होगी—'ले, दूध पी ! अब जी कैसा है ?— वह राधा से कह रहा था ।

'राधा ने एकदम सूनी दृष्टि से रवि को देखा, चुपचाप दूध का कुल्हड़ होंठों से लगा लिया, एक सांस में पी गई, हांफती-सी फिर लेट गई ।

'रवि ने राधा का माथा छुआ—अरे, बुखार तो एकदम उतर गया-सा लगता है ।—वह पुलकित हो उठा—अरे यार भगवान ! तुमने एकदम मेरी सुन ली, शाबाश !—वह मन ही मन यादकर भगवान की पीठ ठोंकने लगा था ।

' चल उधर, उस घने पेड़ की छांह में लेट जा । घाम तेज हो रहा है, लग गया तो फिर बुखार आ जाएगा ।'—वह राधा को सहारा देता पेड़ की छांह में ले गया । अपना कुरता उतार कर बिछा दिया—ले, इस पर लेट जा । राधा ने कोई प्रतिवाद नहीं किया, चुपचाप लेट गई, आंखें मूंद लीं । रवि ने आधी धोती खोलकर अपने ऊपर के वदन पर लपेट ली, राधा से कुछ दूर हटकर लेट गया, सो गया ।

' जाने कितनी देर वे दोनों सोते रहे । रवि को ही पहले चेत आया, शाम हो गई थी ।—अरे, यह तो वैसी ही पड़ी हुई है, पत्थर-सी, कहीं··· हे भगवान ।' रवि ने घबराकर राधा को हिलाया—अरी, कितना सोयेगी ?

' राधा ने अपनी वे बड़ी-बड़ी आंखें पूरी खोल दीं, उन आंखों से रवि को भरपूर देखा, भर लिया···अब वे आंखें सूनी नहीं थीं···। राधा मुस्कराई—मैं तो जाने कब से जागी पड़ी हूं, तुम्हीं कुंभकरण की तरह सो रहे थे···बहुत थक गए थे न । कुछ खाया-पिया या नहीं ?' राधा की आंखों में नमी थी, स्वर में आर्द्रता···एक अनाम कंपन से राधा और रवि दोनों सिहर उठे थे—किन्तु, उस 'कंपन' को उचित शब्द देना, दोनों को ही नहीं आता था । उनके स्पन्दन निश्शब्द थे···उनकी तेज़ हो उठी धड़कनें भी चुप थीं—!

'एकदम पगली है री तू, बिल्कुल बुद्धू ।' बहुत प्रयास कर रवि ने कुछ कहा भी तो यह कहा ।

'तो तुम्हीं कौन से पंडित हो ! कौन-कौन से शास्त्तर पढ़े हैं ? रोज तो पंडित जी से पिटते थे···मुझे सब मालूम है, हां !' राधा नटखट हो उठी ।

'पंडितजी ने तो मुझे पीटा या नहीं, लेकिन तूने उल्टी-सीधी बातें कीं तो मैं जरूर तुझे पीटूंगा, हां···।' 'हां' कहते रवि ने राधा की ऐसी नकल

की, कि राधा खिलखिला पड़ी,—'रवि, सच, तुझे और कुछ नहीं, बस, नौटंकी में काम करना चाहिए। मां री ! कैसी बढ़िया नकल उतारता है।' राधा हंसती जा रही थी, घुंघरुओं की झनकार-सी गुंजित हंसी ! रवि ने कहना चाहा'''अरे, सारे मोती आज ही मत लुटा दे, मैं समेट नहीं पाऊंगा'''तेरी झकाझक बत्तीसी में झरते ये हंसी के मोती अनमोल हैं री, मेरे लिए'''!—किन्तु कहा नहीं, कह पाया नहीं। मुग्ध आंखों से राधा को देखते वह चुप था। राधा की हंसी रुकी तो एकटक अपनी ओर देखते रवि की मुग्ध दृष्टि का अर्थ शायद उसकी समझ में भी आ गया।''' 'ऐसा पागल-सा क्या देख रहा है रे !''''कहती, राधा के सांवले, बिना धुले कपोलों पर भी लाज का, राग का, ऐसा रंग बिखरा कि उसकी आभा से वह साम रगों से नहा गई'''। रवि तो उस रंग से सराबोर हो ही उठा था'''! उसका जी चाहा, वंशी पर कोई धुन छेड़े, मन में स्वरों का ज्वार उठ आया था—लेकिन उसकी बंशी ? वंशी तो इस सारी दौड़-भाग में जाने कहां रह गई थी ?' अब वह राधा को सुनाने के लिए नई वंशी लेगा'''नई वंशी के स्वर भी तो अब नए होंगे।

'सुन रे ! मुझे उस पार जाना है इस सन्दूक के साथ, यह डोंगी तेरी है न रे, ले चलेगा ?—कोई पूछ रहा था।

' रवि उछल कर खड़ा हो गया'''जरूर ले चलेगा बाबू'''आइए !''' बस, मैं गया और आया, तेरे लिए दूध लेता आऊंगा, तब तक ये मुरमुरे खा।'''मुरमुरे का ठोंगा राधा के हाथ में देते, अनचाहे ही उस हाथ के स्पर्श से रवि के सारे शरीर में विद्युत् दौड़ गई थी— 'तुम भी जरूर कुछ खाते आना, तुम्हें मेरी कसम !' राधा ने पलकें झुका ली थीं।'

बाबा की कहानी का यह अंश सुनती, प्रिया ने भी पलकें झुका ली थीं— उसके मुख पर भी रंग बिखर गए थे'''कोमल, तरल, भावनाओं के मुग्ध रंग !

'बाबा, उस दिन नानी ने, यानी कि तुम्हारी राधारानी ने, तुम्हारे लिए एक बात एकदम सच कही थी—तुम तब भी पागल थे, अब भी पागल हो।' प्रिया बाबा को खिझाना चाह रही थी'''या अपने भीतर भी उठ आए कोमल तरल भावनाओं के मुग्ध ज्वार को, शरारत का रूप देकर बाबा से छिपा लेनी चाहती थी'''?

'क्या कहा'''मैं पागल हूं !' बाबा ने आंखें तरेरी।—'त्रिया-चरित्र के

ज्ञाता कहते हैं कि स्त्रियों की उल्टी बातों के अर्थ सीधे होते हैं, अर्थात् 'ना' का अर्थ 'हां' होता है, और 'पागल' का अर्थ, इस नियम से 'ज्ञानी' होता है। तेरी नानी तो, खैर काला अक्षर भैंस-बराबर थी, अब मेरी बी. ए. पास बिटिया, तू ही बता कि यह बात एकदम सच है या नहीं ?' बाबा की आंखों में, वर्षों पूर्व का वह शरारती छोकरा, रविशंकर हंसने लगा था।

प्रिया ने सिर झुका लिया, आंचल उंगलियों में ले लपेटने-खोलने लगी।

'अरे, तू क्या बताएगी मेरी अक्लमंद बिटिया, तेरा पागल बाबा ही बताएगा कि नानी से नातिन तक नारी का एक रूप चिरन्तन सत्य है··· नारी के प्रियात्व का। तभी तो मैंने तेरा नामकरण 'प्रिया' किया है। यह तेरे नाना के अन्तर्तम से उभरा नाम है···नारी के शाश्वत सत्य को एक प्रणाम है। नारी के अनेक रूप होते हैं—मां, बहिन, पत्नी, बेटी—किन्तु इन सब रूपों के परोक्ष में उसका प्रियात्व सदा बना रहता है। याद नहीं, तू छोटी थी तो मुझसे रोज दस बार मिट्ठी मांगती थी, फिर कहती थी—ये मुच्छी कटवा दो बाबा गड़ती हैं। और तेरे बाबा ने तेरी खातिर मूंछें कटवा भी दी थीं, यद्यपि लोगों ने बार-बार टोका था—ये आपने मूंछें क्यों कटवा दीं ? आपके गोरे रंग पर काली मूंछें कितनी सजती थीं।—तेरी नानी को भी मेरी मूंछें बहुत पसन्द थीं, कहती थी—इन मूंछों के कारण तुम ऐसे सजते हो जैसे राजकुमार। तुम्हारे गले में मोती-मानिक का कंठा भी होना चाहिए था···' कहती, वह उदास हो जाती थी, उसे क्या पता था कि उसकी बांहों का हार, मेरे लिए मोती-मानिक के कंठों से अधिक अनमोल था। मैं तो पागल था या नहीं, किन्तु तेरी नानी इतनी बुद्धू जरूर थी कि मैं उसे उसकी बांहों के हार की कीमत नहीं समझा पाया···वह यही कहती-कहती मर गई—मेरे कारण तुम कितनी विपदा उठा रहे हो। मैंने तुम्हारी जिनगानी चौपट कर दी, नहीं तो शायद तुम सुखी होते।—मैं न उसे अपने दुःख का अर्थ समझा सका, न सुख का।—मैं नहीं, तेरी नानी ही पगली थी, प्रिया—और हर नारी एक हद तक पगली होती है, चाहे उसके पागलपन के रूप अलग-अलग हों। तेरी नानी अपने ढंग की पगली थी, सौदामिनी अपने ढंग की है—चित्रा अपना पागलपन सिद्ध कर ही गई है, अब तेरी बारी है—देखें, तू पागलपन का कौन-सा रूप दिखाती है।'

प्रिया को लगा, बाबा ने नारी के नारीत्व की, प्रियात्व की परिभाषा एक शब्द में दे दी है, और वह शब्द है—'पगली !'

'कहीं बाबा कुछ ताड़ तो नहीं गए ?' प्रिया अचकचा उठी। जानती थी, जीवन के अनुभवों से गुजरकर उसके बाबा 'अन्तर्यामी' हो उठे हैं। जिन्दगी की सच्चाइयों के आरपार देखती उनकी आंखें 'पारदर्शी' हो उठी हैं। इन 'पारदर्शी' आंखों से कुछ भी छिपा पाना प्रिया को कठिन लगता था। वह मां के भी इतनी निकट नहीं थी, जितनी बाबा के। मां का बाह्य रूप, सदा हाथ में बेंत लिये अध्यापिका का-सा रहा, जो जरा-सी भी गड़बड़ करने पर तड़ से बेंत जड़ देती है। प्रिया को यह भी लगता रहा था, जैसे मां अपने अभिशापों की छाया उस पर नहीं पड़ने देना चाहती, जैसे मां स्वयं को मिटाकर भी प्रिया को कुछ बना जाना चाहती है। प्रिया को याद था, ऊपर से बात-बात पर डांटने वाली, थप्पड़ जड़ देनेवाली मां रात-रात भर उसे वक्ष में समेटे सिसकती भी रहती थी'''। अबोध प्रिया में जब तक जिन्दगी के कुछ यथार्थ बोध सचमुच नहीं जागे—मां उसे एक पहेली ही लगती रही। कौन-सी मां सच है, जरा-सी बात पर थप्पड़ जड़ देने वाली मां, या घण्टों वक्ष से सटाये रखने वाली मां'''?

किन्तु बाबा का बाहर-भीतर, सब पारदर्शी था, किसी झील के निर्मल जल की तरह तरल, स्वच्छ, पारदर्शी। बाबा की यह झील गहरी भी बहुत थी—थाह पाना मुश्किल था। उस झील में झांककर अपने प्रतिबिम्ब देखे जा सकते थे, आकाश के बदलते सब रंग भी, किन्तु उसकी अतल गहराई तक पहुंच पाना असंभव था। प्रिया प्राय सुनती—प्रिया के नाना सचमुच अजीब आदमी हैं, उनको समझ पाना मुश्किल है। जिस दर्द में आदमी रोता-चीखता है, उस दर्द में वे गाते होते हैं। वर्षों से खटिया पर पड़े इस अपाहिज बुड्ढे को हम देख रहे हैं, जरा भी नहीं हारा, और कोई होता तो कब का मर गया होता !' गुजरते पड़ोसी खिड़की से पूछते—क्यों रवि बाबू, कैसी तबियत है ?'''बाबा को कष्ट जितना अधिक होता, वे उतने ही ऊंचे स्वर में कहते—'अहा ! आज तो बहुत अच्छा हूं'''! और देखो न, दिन भी कितना सुहाना है, यह उजली-उजली धूप, यह हरी-भरी धरती, यह नीला-आकाश'''और चारों ओर इतने अच्छे आप सब !''' यह सुनकर तावे कहते-

वाले ओंठ प्राय: चुप हो जाते, किन्तु तनकर। किसी आदमी के सम्मुख कोई आदमी झुके, यह प्राय: आदमी के अहं की हार होती है—ऐसी हार साधारणतया कोई नहीं मानना चाहता। कभी-कभी प्रकृति के नियम भी कितने उलटे होते हैं—फलों से लदा पेड़, फूलों से भरी डाल झुकी जाती है; ठूंठ सीधा तना खड़ा रहता है।...और, साधारणतया आदमी ठूंठ ही होता है। 'देखेंगे न। बुड्ढा कब तक नहीं हारता...?' वे ठूंठ मन ही मन दुहराते।

परिचितों में केवल एक केशवजी ऐसे थे जो बाबा के सम्मुख विनत हो उठते थे। वे अल्पभाषी थे, अत: कभी मुखर नहीं हो सके; किन्तु बाबा के प्रति उनकी श्रद्धा को प्रिया उनकी आंखों में साफ-साफ देख लेती थी। प्रिया को लगता, केशव जी का बस चले तो वे बाबा की पूजा करने लगें, किन्तु वे संकोची भी बहुत थे, केवल इतना कह पाते—बाबूजी, कैसे हैं आप? मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा दीजिये। किसी चीज़ की जरूरत तो नहीं है? जरूरत हो तो निस्संकोच कहियेगा...अच्छा, नमस्कार।—और आंखों की नमी को छिपाते-से उठकर जल्दी चले जाते। वे बाबा के निकट अधिक नहीं बैठते थे—या बैठ पाते नहीं थे? प्रिया ने धीरे-धीरे जाना, वे बैठ पाते नहीं थे।

केशव जी, मां से भी प्रकट में बहुत कम बोलते। बोलते भी, तो या तो नीची नजर किये या मां के परे देखते—'जब केशव अंकल को इतना कम रुकना होता है तो वे आते ही क्यों है?' अबोध प्रिया मां से पूछा करती थी। मां भी केशव जी के हाथ में चाय का प्याला देती, या तो दृष्टि नीची किये होती या केशव जी के परे देखती होती। प्रिया के प्रश्न के उत्तर में केवल इतना कहती—'मालूम नहीं बेटी, वे आते ही क्यों हैं? शायद बहुत काम रहता होगा, इसीलिए जल्दी चले जाते हैं। तू कहकर देख, शायद कुछ देर रुक जाया करें। तुझे बहुत चाहते हैं वे। देखती नहीं, मैं चाहे भूल जाऊं, तेरा जन्म-दिन वे कभी नहीं भूलते, फिर तेरे लिए प्रेज़ेण्ट भी जरूर लाते हैं। उनका बस चले तो तुझे अपने पास ही रख लें...। केशव जी मां के परे मां को ही देखते हैं—यह भी प्रिया धीरे-धीरे स्वयं समझ गई।

'चित्रा दीदी ने कितनी उद्दंडता से मां से कहा था—केशव जी को देखते तुम्हारे चेहरे का रंग क्यों बदल जाता है!—और मां तड़प उठी थीं। उसके बाद केशव जी ने घर पर आना बन्द कर दिया था, और मां के मुख पर केवल एक रंग स्थिर होकर रह गया था—रक्तहीन जड़ता का! यदा-कदा केशव

जो का उल्लेख होते ही मां का मुख इतना सफेद हो उठता कि प्रिया उस रक्तहीन मुख को देखती सहम जाती'''चित्रा दीदी, यह तुमने क्या किया? कैसी एकाकिनी बना गई मां को? एक पूजा-जैसी पवित्र मां के जीवन पर कलंक का कैसा कीचड़ उछाल गई'''? घाव पर घाव खाती, संघर्ष करती मां वैसे ही क्या कम आहत थी जो तुम उसके रक्त की अन्तिम बूंदें भी निचोड़ लेती गईं'''!' मां का रक्तहीन मुख कभी-कभी प्रिया को घण्टों तड़पाता'''मां को छेदते तीर प्रिया को भी बेधने लगे थे—'क्या कमी थी मां में, जो वे कभी चैन में न रह सकी?' प्रिया को फिर लगता, प्रकृति के, संसार के, समाज के नियम उलटे ही होते हैं—सच हारते रहते हैं, झूठ जीतते चले जाते हैं'''।

बाबा जब कभी किसी चोट से फिर आहत होते हैं, तो जोर-जोर से हंसते हुए कहते हैं—'अरी प्रिया री! देखा, इस दुनिया का चक्कर ही पूरा घनचक्कर है'''! यहां जीने के लिए मारना आना चाहिए, पाने के लिए लूटना सीखना चाहिए'''या कम से कम ईंट का जवाब पत्थर से देना तो आना ही चाहिए। देख न, तेरे बाबा ने समाज के सामने ताल ठोंकी तो उसके हाथ ही तोड़ दिये गए'''! तेरी मां ने अपने सम्मान की रक्षा करनी चाही तो पहले उसके पति नामधारी ने उसे रौंद देना चाहा, जितना बस चला, उतना कुचला भी'''फिर दुनियावालों ने अपमान के कोड़े पर कोड़े मारे'''और अन्त में उसकी खुद की बेटी उसे अपमान का जहर पिला गई कि अब मेरी सौभागिनी, मेरी बेटी ज्यादा नहीं जियेगी'''। देखती नहीं, चित्रा का दिया विष तेरी मां की नस-नस में कैसा उतर गया है! चित्रा ने नारी होकर, बेटी होकर, मा की सारी तपस्या व्यर्थ कर दी, उसकी जीवन-भर की पूजा झुठला दी'''! तभी तो बाबा कबीरदास जी कोई बड़ी भारी फिलॉसफी नहीं, एक औघड़ सच कह गए हैं, और क्या खूब कह गए हैं—

> चलती को गाडी कहे, जमे दूध को खोया।
> रंगी को नारंगी कहे, देख कबीरा रोया॥

फिर उदास होती प्रिया को गुदगुदी चलाकर हंसा देते—'अरे बेटी, मार गोली तुलसी और कबीर को, भाड़ में जाने दे दुनिया को, चूल्हे में झोंक समाज को'''सुन-सुन, यह मन्द-सुगन्धित पवन क्या कह रही है—मन्द समीरे जमुना तीरे'''!'

प्रिया विद्रूपित हंसी हंस पड़ती—'तुम भी सचमुच पागल हो वावा ! लू के झक्कड़ चल रहे हैं और तुम गा रहे हो—मन्द-समीरे, जमुना-तीरे···! खिड़की वन्द कर दूं नहीं तो सारा 'मन्द समीरे' घरा रह जाएगा, लू लग जाएगी, और 'जमुना-तीरे' के स्थान पर, इस गर्मी-भर पानी केवल एक-एक घण्टे सुवह-शाम नलों में आयेगा, अखवार में सूचना छपी है। पिछले वर्ष वर्षा वहुत कम हुई थी न, इसलिए पानी की भारी कमी पड़ गई है।'

'अरे, लू लगेगी तव देखा जायगा और पानी दो घण्टे तक तो आयेगा··· वह भी न मिलता तो तू या तेरा वावा क्या कर लेते···ठेंगा ?' ठेंगा दिखाते वावा को देखती, हारती-सी प्रिया में एक 'जिजीविषा' जाग उठती···!

'नहीं, ऐसे नाना की नातिन होकर अपना युद्ध वह भी लड़ेगी···जितना भी लड़ सकेगी···स्वयं से कहती प्रिया युद्ध के लिए सन्नद्ध हो उठी थी। अव वह 'युद्ध' का अर्थ भी समझने लगी थी—जय और पराजय का भी—और यह भी समझ गई थी कि 'जय' और 'पराजय' के अर्थ केवल वे ही नहीं होते, तो शब्द-कोष में दिये होते हैं—व्यक्तिगत सन्दर्भों में इन शब्दों के अर्थ नितान्त भिन्न भी होते हैं, विपरीत भी। जय-घोष के वीच खड़ा आदमी कभी-कभी विलकुल पराजित होता है, और विलकुल पराजित घोषित अपराजेय !···जैसे सारी पराजयों को ठेंगा दिखाते उसके वावा।



'सचमुच वावा ने कुछ भांप तो नहीं लिया !···राधारानी की हिरनी-सी आंखों की कथा सुनाते वावा ने प्रिया की आंखों में भी कुलांचें भरती हिरनी को देख तो नहीं लिया···? किन्तु वावा जान भी लें तो सीधे-सीधे कहेंगे—अरे पगली ! किस मरीचिका के भ्रम में आ गई है तू···? वह पानी नहीं···केवल पानी का भ्रम है !'

किन्तु प्रिया को तो सचमुच कुछ ही दूर पर एक सरोवर का निर्मल-नीले जल का जलाशय दीख रहा था···और उसमें शुभ्र कमल खिले हुए थे ! शुभ्र कमल विरल ही होते हैं ! किन्तु प्रिया को वह सरोवर, वे शुभ्र कमल, सचमुच दीख रहे थे···वस, एक कुलांच में वह वहां तक पहुंच सकती थी, फिर वह उन शुभ्र कमलों में से केवल एक तोड़कर अपने घने रेशमी केशों में सजा लेगी···या उस सरोवर के किनारे प्रतीक्षा-रत 'वह' उस शुभ्र कमल को

प्रिया की वेणी में लगा देता—अपने हाथ से !

खिड़की से बाहर, शारदीया की उस रात, आकाश से धरती पर चांदनी के शुभ्र कमल ही तो बरस रहे थे'''प्रिया की चितवन में भी ऐसे ही उजले कमल हैं ! बाबा कहते हैं—और देवदास भी तो कह उठा है—'सचमुच तुम शरत् की पारो-सी ही सुन्दर, लावण्यमयी, प्रेम-प्रतिमा हो प्रिया ! और देखो न, मैं संयोग से देवदास हूं ! क्या तुम प्रिया से पारो बन सकोगी ?'

एक कागज के टुकड़े पर यह लिखा प्रिया को अपनी उस पुस्तक में रखा मिला था, जिसे उसके सहपाठी देवदास ने एक दिन के लिए मांगा था। पुस्तक मांगते और लौटाते देवदास ने अपलक प्रिया को देखा था, गहरी विभोर-सी दृष्टि से ! प्रिया ने तब तक ध्यान नहीं दिया था कि बी. एड. की क्लास में देवदास उसे प्रायः विभोर दृष्टि से देखा करता है ! सहेलियों ने छेड़ा भी था '''अरी ओ प्रिया ! देख तो, उस देवदास को, बुद्धू तुझे कैसे ताका करता है ! कहीं यह बुद्धू सचमुच तो 'देवदास' बनने के सपने नहीं देखने लगा'''? लेकिन हमारी प्रिया रानी बिलकुल पाषाणी है'''ये पारो बनने से रही ! अरे, कहीं हम इन जैसी अप्सरा होतीं तो—वे सम्मिलित स्वरों में हंसतीं, छेड़तीं—प्रिया के अपूर्व रूप पर ताने भी कसतीं। प्रिया केवल एक मधुर मुसकान का प्रत्युत्तर देती, चुप बनी रहती। वह मन लगा कर, अपना पूरा ध्यान केन्द्रित कर, पुस्तकों पर झुकी रहती। उसके सम्मुख केवल एक लक्ष्य था—शीघ्र से शीघ्र बी. एड. कर नौकरी पाने का। अपने मन के द्वार पर दस्तक देते उन्नीसवें वसन्त को वह 'अनसुना' ही रखना चाहती थी'''किन्तु उस वसन्त के कारण उसके तन में खिल आये भरपूर लावण्य को, रूप को वह औरों से 'अनदेखा' कैसे रख सकती थी'''? लोलुप पुरुष-दृष्टियां उससे पग-पग पर टकराती रहतीं'''उन निगाहों में रस-लोलुप भौंरे ही होते'''रूप और गन्ध से भरपूर प्रिया, स्वयं तो उन भौंरों को भी 'अनदेखा' किये दे रही थी'''किन्तु उन भौंरों से 'अनदेखा' रह जाना उसके वश की बात नहीं थी। वह स्वयं को नियन्त्रित रख सकती थी—भौंरों के उस झुंड को कैसे नियन्त्रित करती'''!

बाबा कहते—'प्रिया, तू तो जोगन बन जा री ! मीराबाई ! हाथों में करताल उठा ले, पैरों में घुंघरू बांध ले और फिर किसी अदृश्य गिरिधर-गोपाल के लिए नाच, गा'''मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'''! तेरे सुर में सुर मैं मिला दिया करूंगा। अरे पगली, एक बिन्दी तो लगा लिया

कर, इन रूखे केशों को तो ढंग से संवार लिया कर···बस, भूतनी बनी रहती है ! एक चित्रा थी कि आंखों में काजल की पूरी डिब्रिया ही उलट लेती थी···और मजाल कि कभी अनसंवरी रह जाय···! और एक तू है जो जोगन बनी रहती है···।'

प्रिया शरारत से हंसती, 'तो फिर मैं भी चित्रा दीदी बन जाऊं बाबा···?'

बाबा कानों पर हाथ रख लेते, एक आहत हंसी हंसते, 'ना बाबा, ना, तू कभी चित्रा मत बनना !' फिर उनके स्वर में एक सहज विश्वास उभर आता —'तू चित्रा बन ही नहीं सकती···!' बाबा का वह विश्वास, प्रिया के तन-मन में अंगड़ाई लेते बसन्त की उन्मादक दस्तकों को नकार देने का बल बन गया था···। नहीं, अभी वह इन उन्मादक दस्तकों के प्रत्युत्तर में मन का द्वार नहीं खोलेगी···नहीं खोलेगी···प्रिया ने एक निश्चय कर लिया था।

किन्तु, देवदास की उंगलियों से लिखी गई वे पंक्तियां पढ़ती, प्रिया के हाथ से पुस्तक छूट गई···सचमुच उसके कांप उठे हाथों से पुस्तक छूटकर गिर पड़ी थी···उसकी उंगलियों के बीच वह कागज का टुकड़ा उलझा रह गया था···और लाख संभालने पर भी प्रिया का हृदय धड़क उठा था··· कोठरी के सूने एकान्त में, रात के नीरव प्रहरों में, प्रिया की धड़कनें बजने लगी थीं···कदाचित् वे देवदास की धड़कनों की प्रतिध्वनियां थीं···। लाख चाहने पर भी प्रिया के लिए देवदास की धड़कनों को अनसुना कर जाना असंभव हो गया···। उसके मन का एकान्त देवदास के स्वरों से गूंजने लगा था···बरबस।

अत्यन्त सुदर्शन था देवदास। घने-घुंघराले बाल, कवियों-सी बड़ी-बड़ी आंखें, तीखी नाक, ऊंचा कद, दमकता मुख। प्रिया ने जब उसे ध्यान से देखा, तो देवदास का वह दमकता तरुण मुख उसे एक पूरी भीड़ में अलग-सा निर्दोष-सा लगा, उसकी बड़ी-बड़ी आंखों में किसी भौंरे की रस-लोलुपता किंचित् भी नहीं थी···देवदास की उन आंखों में किसी क्रीड़ा का आमन्त्रण भी नहीं था···। केवल एक अभ्यर्थना थी !



किन्तु, प्रिया ने उस अभ्यर्थना को भी ठुकरा देना चाहा···नकार देना चाहा। वह लाइब्रेरी में किसी पुस्तक पर झुकी हुई नोट्स ले रही थी। कोई

पार्श्व में आकर खड़ा हो गया, खड़ा रहा। प्रिया को दृष्टि उठानी ही पड़ी—देवदास था। 'आपको'''तुम्हें—वह किताब मिल गई न!' देवदास के ओठ काँप-से रहे थे।

'क्यों, तुमने स्वयं ही दी थी, फिर कैसे न मिलती?' प्रिया ने उन काँपते ओंठों को देखते अपने ओठ कस लिये थे।

'नहीं'''मेरा मतलब है'''तुम्हें'''तुम्हें उस पुस्तक में और कुछ नहीं मिला?' देवदास की दृष्टि याचक हो उठी थी।

प्रिया ने जोर से सामने रखी पुस्तक बन्द कर दी। पेन भी बन्द करती, नोटबुक को पर्स में रखती बोली—'देखो देवदास, तुम शरत् के देवदास हो सकते हो, मैं पारो नहीं हो सकती। मैं सिर्फ प्रिया हूं—प्रिया ठाकुर। मुझे ऐसे निरर्थक खेलों की न कोई कामना है, न फुरसत। तुम कोई और पारो तलाश कर लो'''और यदि समझ सकते हो तो समझने की कोशिश करो कि 'गम और भी हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा'''!' प्रिया उठ खड़ी हुई थी'''देवदास हतप्रभ-सा बैठा रह गया था।

किन्तु, प्रकट में देवदास को अनदेखा कर जाने वाली प्रिया, धीरे-धीरे देवदास की दृष्टि भी बचाकर, उसे चोरी-चोरी देखने लगी थी। उसने देखा था—देवदास की उन कवियों-जैसी आंखों में उदासी के बादल घिरे रहने लगे थे। धीरे-धीरे प्रिया उन आंखों में धूप देखने के लिए विवश हो उठी।

बी० एड० की परीक्षा हो गई, रिजल्ट निकला। प्रिया प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गई, देवदास फेल होते-होते बचा।

उस समय कालेज में विद्यार्थियों ने विदाई-समारोह किया। सर्वोच्च अंक प्राप्त करनेवाली प्रिया सभी आंखों की केन्द्र थी'''! किन्तु प्रिया जिन आंखों को ढूंढ रही थी, वे वहां नहीं थीं, अर्थात् देवदास उस धूमधाम के बीच नहीं था। बधाइयां स्वीकार करती, हंसती, मुसकराती प्रिया व्यग्र हो उठी थी—क्यों नहीं आया देवदास? आज तो उसे आना ही चाहिए था!

समारोह समाप्त होते रात घिर आई। प्रिया घर लौटने की शीघ्रता में बस में चढ़ रही थी, किन्तु भारी भीड़ के कारण फुटबोर्ड पर खड़ी ही थी कि बस चल पड़ी'''प्रिया चीख पड़ी'''सहसा किसी ने उसे भीड़ के बीच में से भीतर खींच लिया—'ओह'''!' कहती प्रिया ने देखा, देवदास था। स्वयं धक्के खाता खड़ा देवदास अपनी सीट पर प्रिया से बैठ जाने की याचना-सी कर रहा था'''केवल हाथ के सहारे से, आंखों से'''उसके ओंठ निश्शब्द थे।

चक्कर खाती प्रिया बैठ गई। 'थैंक्स' भी नहीं कह सकी। हिचकोले खाती बस में प्रिया के अंगरक्षक-सा देवदास चुपचाप धक्के खाता खड़ा रहा···आज वह प्रिया को देख भी नहीं रहा था···प्रिया ने देखा, देवदास की दृष्टि सूनी थी···बस के बाहर देखती, भटकती-सी दृष्टि।

अपने स्टॉप पर उतरती प्रिया ने सहसा कहा, 'देवदास, चलो मेरे घर, तुम्हें सबसे मिला दूं—मां से, बाबा से।'

देवदास बुरी तरह चौंक गया, जैसे उसे अपने कानों पर विश्वास न हो पा रहा हो···कानों पर या आंखों पर···? सम्मोहित-सा देवदास प्रिया के साथ चलने लगा था।

'तुम 'फंक्शन' में क्यों नहीं आये ?' प्रिया कुछ पूछ रही थी, 'मुझे कितनी प्रतीक्षा थी···!'

'प्रतीक्षा···मेरी···? पागल, निकम्मे देवदास की ओर कभी मुड़कर भी न देखनेवाली प्रिया ठाकुर को मेरी प्रतीक्षा थी—क्यों ?' देवदास के स्वर में कोई व्यंग्य नहीं, केवल एक हतप्रभता थी।

'पता नहीं, क्यों···?' कहती प्रिया ने अवाक् होते देवदास को सड़क के लैम्प-पोस्ट की धीमी रोशनी में आंखें पसार कर कुछ क्षण भरपूर देखा—फिर पलकें झुका लीं—या वे पलकें किसी मृदु भार से स्वयं झुक गई थीं···!

अवाक्, सम्मोहित-सा देवदास निश्शब्द दरवाज़ा खटखटाती प्रिया के पार्श्व में खड़ा था। दरवाज़ा सौदामिनी ने खोला, 'कितनी देर कर दी प्रिया, तेरे बाबा कितना घबरा रहे हैं!' देवदास पर दृष्टि पड़ते ही सौदामिनी का मृदु होता स्वर, कठोर हो उठा। वे एक झटके से मुड़ीं, यह भी नहीं पूछा कि यह तेरे साथ कौन है।

प्रिया ने क्षमा मांगते-से स्वर में कहा, 'हां मां, सचमुच आज बहुत देर हो गई, फंक्शन के हंगामे में। तभी इनके साथ आई हूं, अकेले आते डर लग रहा था। मां, ये देवदास हैं, मेरे क्लासफेलो। और देवदास, ये मेरी मां हैं।'

देवदास प्रणाम करते सौदामिनी के पैरों में झुका। 'बस, बस, रहने दो, सुखी रहो।' रूक्षता से कहती सौदामिनी भीतर चली गईं।

'माइण्ड मत करना, देवदास ! मां ऊपर से ही ऐसी हैं। चलो, तुम्हें बाबा से मिलाऊं, वे ऐसे नहीं हैं।'

'बाबा, तुम्हारी नातिन आखिर बी० एड० हो ही गई। अब नौकरी मिलना पक्का है। मैंने पहले से ही 'एप्लाई' कर दिया है। अब तो खुश हो

न बाबा ? तुम्हारी यह बेटी अब किसी लायक तो हुई ''मुझे आशीर्वाद दो बाबा'''!' प्रिया बाबा से लिपट गई थी।

प्रिया का मस्तक चूमते बाबा की आंखें तरल हो उठी—'हां, क्यों नहीं होगा यह निकम्मा बुड्ढा, अब तक बेटी से हल चलवाता रहा, अब जुआ नातिन के कन्धे पर लाद दिया। हे अन्तर्यामी! मुझे क्षमा कर!''' अरे, यह कौन है तेरे साथ ?' बाबा ने देवदास को देखकर पूछा।

'ये मेरे सहपाठी हैं बाबा—देवदास।' प्रिया सहमने लगी थी।

'आज तक तो तूने कभी इसका जिक्र नहीं किया।'''और आज सीधे साथ ले आई!' बाबा एक नटखट हंसी हंस पड़े।

सहमती प्रिया और सहमता देवदास, दोनों एकदम सहज हो उठे। बाबा की कोमल-तरल हंसी से सारी रूक्षता स्निग्ध हो उठी थी।

'फिर आना बेटा, प्रिया के पास होने की खुशी में मिठाई खाने'''जरूर आना'''आज तो अभी कुछ इन्तजाम नहीं है।' प्रणाम में झुकते देवदास के मस्तक पर हाथ रखते बाबा ने आंखें मूंद लीं। 'प्रिया, बड़ी नींद आ रही है री'''! सोऊंगा, तेरी प्रतीक्षा ने आज बहुत थका दिया।'

देवदास को बाहर भेजती, दरवाजा बन्द करती प्रिया, सांकल चढ़ाकर, दरवाजे से पीठ सटाकर कुछ देर चुपचाप खड़ी रही'''देवदास की दूर होती पगचाप को सुनती। वे पगध्वनियां गिनती की थीं—अस्पष्ट भी। देवदास के पैरों में खट्खट् करते कीमती जूते नहीं, कैनवस के सस्ते जूते ही थे—ऐसे जूतों की आवाज़ में शोर कहां होता है'''! दरवाजा बन्द करती प्रिया से, देवदास ने ओठों से तो नहीं कहा था—बस, उसी सम्मोहित दृष्टि से एक बार देख, अपराधी-सा आंखें झुकाये चुपचाप चला गया था—बिना मुड़कर देखे।

दो मास बीतने के पूर्व ही प्रिया को सर्विस मिल गई—एक इण्टर-मीडियेट कॉलेज में हिन्दी-लेक्चरर के रूप में नियुक्ति हो गई। ढाई सौ का 'स्टार्ट' मिला था।

पहला वेतन मिलते ही प्रिया, बाबा के लिए 'इन्स्टॉलमेंट' पर सीलिंग पंखा लाई। 'धीरे-धीरे हर मास कीमत कटती रहेगी, तुम चिन्ता न करो बाबा! अब आराम से गाओ—'मन्द समीरे···जमुना-तीरे···!' प्रिया ने पंखे का स्विच पहली बार ऑन करते कहा।

लेकिन यह क्या···? सदा ठहाका लगाकर हंसने वाले उसके बाबा का मुख आंसुओं से भीग रहा था। कमरे में पंखे की ठंडक फैल गई थी, किन्तु बाबा की निःश्वासें गरम हो उठी थीं।

'बाबा, तुम बिलकुल उलटे आदमी हो। हंसने की जगह रोते हो, आंसू बहाने के समय ठहाका लगाते हो! उहूं···अब आज यदि तुम रोए तो मैं तुमसे पूरे तीन दिन बात नहीं करूंगी ··और मुझसे बिना बोले तुम्हारे पेट में जो दर्द उठेगा, उसकी दवा किसी डॉक्टर के पास नहीं है···!' प्रिया ने अपने आंचल से बाबा के आंसू पोंछ दिए। कंठ तक उमड़ आई सिसकी को भीतर लौटा दिया। बाबा का हाथ अपनी हथेलियों में भरती बोली, 'बाबा, आज इतवार है न, पूरी छुट्टी है···आज अपनी और नानी की पूरी कहानी समाप्त कर दो न···हां, कहां तक पहुंचे थे हम···? वहां तक, जब नानी ने यानी कि नाना की राधारानी ने कहा था—'और तुम भी कुछ खाते आना, तुम्हें मेरी कसम।'—देखा बाबा, मुझे कितना, एकदम ठीक-ठीक याद है!'—

प्रिया बाबा का अपाहिज हाथ सहला रही थी—उसे लग रहा था, केवल हाथ ही नहीं, बाबा का सारा अस्तित्व ही नियति द्वारा 'पंगु' बना दिया गया है। बाबा का स्वरों से भरा कंठ दुनिया ने घोंटकर रख दिया···नियति या व्यक्ति, स्वयं या संसार···'मानव' नामधारी खिलौनों से निर्ममता से खेलने और फिर इन खिलौनों को निष्ठुरता से तोड़-फोड़ देने के लिए कौन उत्तरदायी है? बाबा को, मां को और अब तो स्वयं को भी देखती प्रिया के अन्तस् में प्रश्नों का झंझावात चला करता है।

'हां प्रिया ! आज नाना-नानी की कहानी पूरी सुन ही ले, री नातिन··· कि बाबा के पेट का सारा दर्द ठीक हो जाय···किन्तु इस दर्द का क्या करेगी ?' बाबा वक्ष पर हाथ रखते हंस पड़े, वही अपराजेय हंसी जो प्रिया के झंझावातों का एक उत्तर होती थी !

'हां, तो राधारानी ने केवल इतना कहा था—तुम भी कुछ खाते आना, तुम्हें मेरी कसम ! शब्द केवल इतने ही थे, इने-गिने···किन्तु उनका 'अर्थ' रवि के चारों ओर अनगिन होकर फैल गया था···रवि के निरर्थक जीवन को कोई अर्थ मिल गया था···उसकी सारी भटकन को एक प्यारा लक्ष्य—राधा···राधा···राधा···! रवि ने उस रात रोटियां तो दो ही खाईं, एक बांसुरी खरीदना न भूला। पैसे इने-गिने थे···और अब, रवि को स्वयं के साथ राधा का पेट भी भरना था···तन भी ढकना था···वह आवारा-निकम्मा छोकरा सहसा जिम्मेदार बन उठा था। दीर्घ समय के पश्चात् बांसुरी पर स्वर छेड़ते वह उस रात, सोई पड़ी राधा को देखते जिन्दगी का जुगाड़ बैठा रहा था···बांसुरी के कोमल स्वर और जिन्दगी का कठोर जुगाड़···रवि की सांसों में वैसे ही एकात्म हो उठे···जैसे वह और राधा हो उठे थे। 'बेवकूफ छोकरी ! क्या निश्चित पड़ी सो रही है कि तन-बदन का भी होश नहीं···!' सहसा रवि को ध्यान आया, वह भागते-भागते भी अपना फटा-पुराना कम्बल डोंगी के तख्ते के नीचे दबाकर साथ लेता आया था···बांसुरी छूट गई थी, कम्बल नहीं···उस समय वह फटा-पुराना कम्बल, बांसुरी से अधिक प्रिय सिद्ध हुआ। रवि ने चुपचाप कम्बल निकालकर सिकुड़ी पड़ी राधा पर डाल दिया···स्वयं आधी धोती ओढ़कर सो गया।

'एक और सवेरा हुआ। रवि जाग गया। राधा वैसी ही बेसुध पड़ी सो रही थी। भोर के फैलते उजास ने राधा का वह निर्दोष मुख, बांसुरी के स्वरों से भी अधिक कोमल रंगों से रंग दिया था···रात भर ओस में नहाये फूल-सा राधा का वह मुख इतना मोहक हो उठा कि सम्मोहित-से रवि ने राधा के बाएं पीताभ कपोल पर अपने ओठ रख दिए···किन्तु राधा बेसुध ही बनी रही···उस प्रथम चुम्बन की साक्षी केवल भोर की वह उजास थी···! रवि को अपना वह चुम्बन भोर के उस उजाले-सा ही उज्ज्वल और पवित्र लगा !···दूर कहीं मन्दिर में शंख बज उठा था ! रवि ने बांसुरी पर भैरवी के स्वर छेड़ दिए थे···।

'उंह, सोने भी नहीं देते !'—आंखें खोलती राधा, सहसा पूरे होश में

आई···उसकी विशाल आंखों के सामने उगता सूरज और रवि साथ-साथ खड़े थे···शायद उन क्षणों राधा को सूर्य और रवि का अहसास भी एक-जैसा हुआ हो···! उसकी आंखें कुछ ऐसा ही कह उठी थीं···लेकिन उस कुम्हार की 'काला अक्षर भैंस बराबर' छोकरी के गुलाब की पंखुड़ियों से ओंठ गूंगे होकर रह जाते थे ··हां, रवि उन आंखों की भाषा समझने लगा था···उन गूंगे ओठों पर अपने तन-मन के सारे स्वर न्योछावर कर बैठा था···!

'तो मैं डोंगी लेकर चलता हूं, कुछ कमाई करने। शाम को देर हो तो घबराना मत। कहीं सिर छिपाने का भी इन्तजाम करके लौटूंगा···ऐसे पेड़ के नीचे कैसे पड़ी रहेगी···? और आज भी तुझे केवल दूध और मुरमुरे मिलेंगे। खबरदार जो इमली खाई !—रवि ने सामने इमली से लदे पेड़ को दिखाते राधा को डांटा। फिर धीरे-से बोला—इमली मत खाना री, कहीं फिर बुखार न आ जाय, तुझे मेरी कसम !—निश्शब्द, एकटक देखती राधा को मुड़-मुड़कर देखता रवि, उमंगों से भरपूर हाथों से डोंगी खेने लगा था।

'उस दिन भर रवि को अपना होश नहीं रहा। वह इस घाट से उस घाट, इस पार से उस पार सामान और आदमियों को चढ़ाता-उतारता रहा, जब तक कि थक कर चूर ही न हो गया।—उसके थके हाथों ने पतवार छोड़ी नहीं—जब तक कि थकान के कारण छूट ही नहीं गई।—सांझ ढले लौटा तो राधा के लिए दूध और मुरमुरों के साथ दो मुसम्मियां भी थीं। दिन में एक बार दूध-मुरमुरे पहुंचा गया था···और स्वयं उस दिन एक बार चने खाये थे, दूसरी बार गिनकर दो रोटियां।

'तीसरी रात, कस्बे की धर्मशाला के दालान में पड़े रहने की अनुमति भी रवि लेता आया था। धर्मशाला दालान के एक कोने में, दो टाट के टुकड़ों पर अलग-अलग सोते रवि ने राधा को बहुत धीरे से समझाया—कोई पूछे तो कह देना, तू मेरी बहन है।—'न' की मुद्रा में जोर से सिर हिलाती राधा को रवि ने खोपड़ी पकड़कर स्थिर कर दिया—चुपचाप जो कहता हूं, करती रह, वरना ऐसा पीटूंगा कि···।

'दिन अपनी गति से बीतने लगे। राधा के लिए एक साड़ी-जम्पर आ गया था, रवि के लिए एक कुरता-धोती भी। राधा धर्मशाला में ठहरने वाले यात्रियों के छोटे-मोटे काम रवि से छिपाकर करने लगी थी—बर्तन मांज देना, कपड़े धो देना—और चुपचाप पैसे जमा करने लगी थी।

'ऋतु ने करवट ली, वर्षा हुई और उस वर्ष जमकर हुई। प्यासी पड़ी धरती के प्राण आकण्ठ तृप्त हो गए !''' नदी उमड़कर बहने लगी'''राधा के कपोलों का अरुणाभ रंग लौट आया था, रवि के प्राणों के रंग गहरा उठे थे'''किन्तु अभी नया कम्बल एक ही आ पाया था।

'जाड़ा पड़ने लगा था। राधा ने कहा—अब तो मुझे बुखार नहीं आता, वैसे भी मुझे ठंड कम लगती है, तुम्हीं सारी रात ठिठुरते रहते हो। लो, आज से यह कंबल तुम ओढ़ो, तुम्हें मेरी कसम !—बात मनवाने के लिए राधा को केवल कसम देना ही आता था।

'धर्मशाला का वह दालान अंधेरा पड़ा ही रहता था। कसम खिलाकर, कंबल उढ़ाती राधा को रवि ने कंबल के साथ निकट खींच लिया'''रवि योगी नहीं था'''प्राकृतिक कामना के ज्वार को, शिराओं में तपते यौवन के रक्त की पुकार को और अधिक रोक पाना उसके लिए असंभव हो उठा'''। फिर क्या सारा दोष रवि का ही था'''? पुष्पधन्वा ने तो महायोगी शिव पर भी अपना शर-संधान किया ही था और शिव भी उन फूलों के तीरों से बिंधे ही थे ! फिर रवि कैसे बचता ? पुष्प-धन्वा ने राधा की कानों तक फैली आंखों की चितवन के बाण चलवा दिए थे—रवि और राधा यौवन के प्राकृतिक उन्माद में एक हो उठने का अपराध कर ही बैठे'''वैसे यह 'अपराध' भी बिलकुल निर्दोष था'''। बसन्त में क्या फूलों को सुगन्ध और पराग बिखेरने से रोका जा सकता है ? सावन-भादों में क्या घटाओं को घुमड़ने-बरसने से रोका जा सकता है'''या फिर शीत-ऋतु में सूर्य के ताप को रेशमी, गुनगुनी उष्णता बनकर धरा से नभ तक की शिराओं में मधुर ऊष्मा बनकर प्रवाहित होने से, प्रकृत हो उठने से रोका जा सकता है'''? क्या प्रकृति के इन नियमों को नकारा जा सकता है'''बचपन के बाद क्या यौवन को नकारा जा सकता है'''नहीं न ?

'किन्तु, यौवन के प्राकृतिक उन्माद को भी समाज द्वारा विवाह की मान्यता मिलनी चाहिए'''। नर-नारी की एकात्मता के शाश्वत सत्य को संसार द्वारा सांसारिक, लौकिक स्वीकार मिलना ही चाहिए, अन्यथा वह प्राकृतिक उन्माद या शाश्वत सत्य 'पाप' बन जाता है, अपराधी हो उठता है, 'दोषी' माना जाता है,'''। और फिर यदि उसकी निरपराधता पर कोई 'दाग' लग जाय तो वह दाग 'अक्षम्य अपराध' सिद्ध किया जाता है—संसार की, समाज की, कानून की दृष्टि में। प्रकृति के नियम, ज़माने के कानून के

द्वारा दंडित किए जाते हैं। प्राकृतिक निर्दोषिता लांछित, अपमानित, प्रताड़ित की जाती है—जब कि 'विवाह' के नाम पर जाने कितनी निर्दोष कामनाओं के कंठ घोंट दिए जाते हैं, जाने कितने धड़कते वक्ष जीते-जी कब्र में उतार दिए जाते हैं ! 'सुहाग' से नारी तन की मांग भरती है, तो पुरुष को अपने मन की मांग भी भरनी चाहिए।—मैं भौंरों की बात नहीं कर रहा बेटी, मैं तो उन परवानों की बात कर रहा हूं, जो दीपशिखा के साथ-साथ जलते हैं !'

बाबा अपनी कहानी सुनाते तन्मय हो उठे थे, प्रिया सुनती तन्मय हो उठी थी। सौदामिनी बाजार-हाट करने गई थीं। कोठरी का साधारण एकान्त किन्हीं असाधारण झंकृतियों से ध्वनित हो उठा था।···बाबा के ओठों से धाराप्रवाह शब्द उमड़ रहे थे।···किसी नदी के छलछलाते, कल-कल निनादित प्रवाह-जैसे ! नाना और नातिन उस प्रवाह में सुध-बुध बिसरा बहे जा रहे थे।

बाबा अपने जिस निर्मम यथार्थ की कथा सुना रहे थे, उसकी आत्मा इतनी काव्यमयी थी कि प्रिया मुग्ध होती बार-बार सोच रही थी—बाबा कालिदास भी हो सकते थे, रवि ठाकुर भी···किन्तु कालिदास भी राजकीय सुरक्षा और सम्मान पाकर ही अमर रचनाएं कर सके थे और रवि ठाकुर भी राजसी पुरुष थे ! जिन्दगी के अभावों से, जीवन के कठोर यथार्थों से परे ही रवि ठाकुर ने 'गीतांजलि' की रचना की···किंतु उसके बाबा की 'जी गई', 'भोगी गई' कथा न शरत् का देवदास बनकर लिखी गई, न रवि ठाकुर की 'गीतांजलि' बनकर सुनाई या सुनी जा सकी···। चेतना के स्तर से कागज़ के पृष्ठों पर उतरने के लिए भी कागज़ चाहिए, कलम चाहिए··· उसके बाबा कागज़-कलम खरीद पाने की सामर्थ्य ही न जुटा सके। बस, कालिदास या रवि ठाकुर को दुहराते रह गए—! उन क्षणों बाबा को निर्निमेष देखती प्रिया की आंखों में 'देवदास' उभरने लगा था। देवदास का तरुण मुख, प्रिया को बाबा के वृद्ध मुख जैसा, एक-सा निर्दोष लगता··· देवदास की इसी निर्दोषिता ने प्रिया को मोह लिया था।

इस बीच देवदास केवल दो बार और आया था···एक बार प्रिया को सर्विस मिलने पर बधाई देने, दूसरी बार बाबा के लिए अपनी ओर से किसी नामी हकीम की दवा पहुंचाने। दोनों बार वह मां की उपस्थिति में आया था···और मां की आंखों के तिरस्कार को चुपचाप झेलता लौट गया था···।

प्रिया की ओर देखने, उसकी आंखों में 'सम्मोहन' पागल हो-हो उठना'''। प्रिया भी उस सम्मोहन के चुम्बक से देवदास की ओर खिंच उठी थी। अब, उस चुम्बक को अस्वीकार किये जाना प्रिया के भी वश में नहीं रह गया था। उसकी नारी-चेतना की, उसके प्रियात्व की, बंजर पड़ी धरा पर पहली बार कोंपल फूटी थी। प्रिया, मा से बात करने का अवसर ढूढ़ रही थी।'''किसी स्पर्श, किसी गन्ध, किसी रस की कामना'''प्रिया के भी ओठों से वक्ष तक स्पन्दित हो उठी थी।

प्रिया ने देखा, कहानी सुनाते बाबा का झुर्रियों वाला मुख, फूल-पत्तों विहीन पतझर-जैसा मुख, किसी वसन्त की स्मृति से खिल-सा उठा था''' स्वर इतना कोमल हो आया था, जैसे उस स्वर में एक छुअन हो, एक स्पर्श ! जैसे, बाबा स्मृति की उगलियों से अपने मधुर अतीत के तारों को धीरे-धीरे छेड़ रहे हों'''और वह 'झंकृति' स्पर्श, रस और गन्ध से भरपूर हो'''ठीक प्रिया के स्पर्श, रस और गन्ध की कामना के समान।

प्रिया को बार-बार लग रहा था कि बाबा देवदास हैं और वह स्वयं राधा'''नाना से नातिन तक की जाने कितनी पीढ़िया लांघकर भी देवदास और पारो वही के वही रहते हैं। हर पुरुष में कृष्ण और हर नारी में राधा होती ही है। युग के युग बीत जाते हैं, समय अविराम गति से चलता रहता है'''इतिहास और भूगोल भी बदल जाते हैं, किन्तु आदम और हव्वा, राधा और कृष्ण, देवदास और पारो के केवल बाह्य रूप और नाम बदलते हैं''' उनके वक्ष में धड़कते हृदय वैसे ही उन्मादी, सम्मोहित, बेसुध रहे आते हैं ! प्रिया को सहसा लगा, प्रेम की एक परिभाषा एक शब्द में 'बेसुधि' भी हो सकती है।

बाबा का वह तन्मय स्वर रुका, तड़पकर आहत-सा हो उठा, वे दर्द में डूबे शब्दों में आगे की कहानी सुनाने लगे थे—'रवि और राधा की कामनाओं का ज्वार, कगारों की सीमाएं तोड़ चुका था। उनका तन-मन सुध बुध आलिंगनबद्ध हो उठा था'''वे उन आलिंगनों को बार-बार दुहरा रहे थे।—दुनिया की भाषा में होश-हवास खो बैठे थे—पागल हो उठे थे''' अपराधी भी।

'रवि के स्पर्श ने राधा को कली से फूल बना दिया था'''उनकी चितवन से मधु झरने लगा था। उसकी सांसों में पराग महकने लगा था'''! रवि उन्नीसवां वसन्त देख रहा था, राधा सोलहवां।'''

'सहसा राधा का अरुणाभ हो उठा मुख पीला पड़ने लगा। वह बार-बार वमन करने लगी थी।—चोरी-चोरी इमली चूसती राधा, रवि से आम के अचार के लिए ज़िद करने लगी थी—मेरा मन सिर्फ अचार खाने को करता है रे! और कुछ अच्छा नहीं लगता।...

'राधा का पीला पड़ता मुख, देखने वालों की नज़र से बचा न रह सका। उन दिनों धर्मशाला में एक जोगन ठहरी हुई थी। मां भैरवी कहलाती थी। रुद्राक्ष की माला पहने, करताल बजाती मां भैरवी ने धर्मशाला में अपना रंग जमा लिया था। भक्त-भक्तिनों की भारी भीड़ जुटने लगी थी। देह से परे, आत्मा की शान्ति के लिए भी मानव कितना भटकता है... और इसी भटकन को वह 'धर्म' कहता है। किन्तु 'धर्म' भी कदाचित् एक मरीचिका ही रहा आता है...जनम-जनम भटकन ही भटकन बनी रहती है!

'सबसे पहले मां भैरवी ने ही राधा के पीले मुख पर कस कर तमाचा जड़ा—क्यों री पापन! यह किसका पाप पल रहा है तेरी कोख में? हे प्रभु! कैसा भोला मुख और कैसी काली करतूत! मांग में सिन्दूर भरे बिना ही 'कुकरम' कर बैठी...।

'एक ही तमाचे से कांप उठी राधा ने 'मां भैरवी' के पैर पकड़ लिये—'मेरी रक्षा करो मां! तुम तो मां हो न!...मैंने उसे छोड़कर किसी को अपनी उंगली तक छूने नहीं दी है।'

'किसे छोड़कर?—मां भैरवी चंडी बन उठी थी। सहमती-सिसकती राधा ने रवि की ओर इशारा कर दिया था।

'हाय रे कलजुग! और तुम दोनों अपने को भाई-बहिन कहते थे! हरे राम! हरे राम! बहिन और भाई के पवित्र सम्बन्ध का ऐसा अपमान... अरे नीचो! तुम्हें तो भगवान भी क्षमा नहीं करेगा।—मां भैरवी ने राधा के केश पकड़कर उसे धरती पर पटक दिया था।

'रवि और न सह सका, राधा और मां भैरवी के बीच सिर उठाये जा खड़ा हुआ, हाथ जोड़ दिये—मां, राधा मेरी बहिन नहीं है...वह तो दुनिया के सामने हमने झूठ कहा था—सच केवल इतना है कि न इस संसार में राधा के कोई है, न मेरे...फिर कौन हमारा ब्याह करवाता...अब आप करवा दीजिये...राधा गंगाजल-सी पवित्र है...उसने कोई पाप नहीं किया, यदि दोष है तो मेरा...रवि की आंखें छलछला रही थीं, शरीर थर-थर कांप रहा

या।' नाना की आंखें वर्षों बाद भी उन क्षणों दनदना उठी थीं, बदन कांपने लगा था'''!

'अरे, हां रे कलियुगी राम ! तेरी राधा सीता है और तू रावण नहीं, राम है। सुनो रे लोगो, यदि इन दोनों पापियों को दंड नहीं दिया गया तो आकाश से वज्रपात होगा, धरती डोल उठेगी'''हरे राम, हरे राम ! ऐसा भयकर पाप।

'मां भैरवी उच्च स्वर में चीख रही थी। हथेलियों से मुंह ढांपे राधा घुटनों के बल बैठी सिसक रही थी'''जुट आई भीड़ आवाजें कस रही थी''' थूक रही थी, अरगड़ बक रही थी'''पाप शब्द के चक्रव्यूह में फंसे राधा और रवि पर तीर बरस रहे थे।

'धर्मशाला का मैनेजर रवि को घसीटता एक ओर ले गया—क्यों बे हरामी, वाह रे तेरी पहलवानी। अब बोल, लड़की फंसाने के जुर्म में करवाऊं बन्द तीन साल की कोठी के अन्दर ?

'रवि फटी-फटी आंखों से राधा को, मां भैरवी को, भीड़ को मैनेजर को देख रहा था'''उसके होश खोये जा रहे थे—पाप'''? क्या पाप किया है उसने ? यही न कि बिना राधा की मांग में सिन्दूर भरे, उसे बाहों में समेट लिया'''उसके प्राणों की रक्षा की'''उसे तन-मन से अपना लिया ! ठीक है राधा को गर्भ रह गया है, तो राधा की सन्तान का बाप कहलाने से उसे इन्कार कहां है ?

'सुनिये बाबूजी, आप सब मिलकर आज ही, अभी, इसी समय हमारा ब्याह करवा दीजिए'''बस, इतनी ही सी तो बात है न ?'—रवि की अबोध प्रार्थना पर मैनेजर ने एक पैशाचिक ठहाका लगाया—अबे साले, पहले शादी होती है, फिर बच्चा पैदा किया जाता है। पहले बच्चा पेट में रखकर बाद में शादी करना जुर्म है—समाज की, संसार की, कानून की, सभी की नजरों में'''अच्छा सुन'''मैनेजर की गरजती आवाज फुसफुसाहट बन गई—एक रास्ता है, बच निकलने का। साली वो तेरी छोकरी है गजब की चीज। बोल, सौदा करेगा ? अरे, इसके हसीन कदमों पर तो बड़े-बड़े, अपनी टोपियां रख देंगे'''बस, तू राधा के पैरों में घुंघरू बांध दे'''फिर राधा को नाचना हम सिखा देंगे'''और तू भी ऐश करेगा ऐश !'''बस, बैठे-बैठे पान चबाया करना या तबले पर थाप देते रहना।—

राधा की ओर कुत्सित दृष्टि से देखते, मैनेजर का गला रवि ने कब

दवोच लिया, उसे होश नहीं···बस इतना याद है कि 'मारो साले' कहते मैनेजर की पुकार पर जाने कितने रवि पर टूट पड़े थे···फिर लात-मुक्के खाता वह अचेत हो गया था।

'जाने कितनी देर वाद उसे चेत आया, तो राधा उसके सिर पर भीगे पानी की पट्टियां रख रही थी, और वे दोनों धर्मशाला के उसी अंधेरे दालान में सिसक रहे थे, कराह रहे थे।—यहां से भाग चलो रवि।—थर-थर कांपती राधा कह रही थी—नहीं तो अब न तुम्हारी जान बचेगी, न मेरी इज्जत।' और वे दोनों हाथ पकड़कर गिरते-पड़ते भाग निकले थे।

यह तो रवि बहुत वाद में समझ पाया कि धर्मशाला के मैनेजर ने पुलिस में रिपोर्ट क्यों नहीं की—वह स्वयं 'ब्लैक लिस्ट' में था, जाने किस-किस जुर्म में सजा काट चुका था। लगभग छः मास वाद, एक अखवार पर नजर पड़ते वह चक्कर खाकर गिरते-गिरते वचा। खवर थी—मां भैरवी पुलिस की हिरासत में! जुर्म था—अवोध युवतियों को, कन्याओं को वहकाकर उनकी इज्ज़त लुटवाना। अखवार में छपे फोटों में मां भैरवी और वह मैनेजर हथकड़ी पहने साथ-साथ खड़े थे। वह मैनेजर, मां भैरवी का गुर्गा था।

'हे भगवान!—राधा को यह खवर सुनाते, रवि स्तब्ध होकर रह गया था। सचमुच वे दोनों बहुत अवोध थे, वेसहारा थे और संसार, समाज उन्हें उनके असमर्थ होने की सजा दे रहा था···एक ही टक्कर में रवि समझ गया था कि उसका 'सच' चाहे जितना निर्दोष हो, चाहे उसके 'सच' का साक्षी अन्तर्यामी प्रभु हो या चाहे उसकी अन्तरात्मा, दुनिया की काली नज़रों में वे कलंकित हो उठे थे···वे पापी थे नहीं, वना दिये गये थे। चुटकी-भर सिन्दूर के अभाव में राधा की मांग रक्त से लाल कर दी गई थी···अग्नि की साक्षी में प्रदक्षिणा न ले पाने के कारण में उन्हें जिन्दा जलाया जा रहा था··· राधा के गर्भ में पनपते अंकुर पर पत्थर वरसाये जा रहे थे···रवि को अजीव-सा लगता कि सीधे-सादे प्राकृतिक 'सचों' को दुनिया के कानून इतने भयानक 'झूठ' क्यों बना देते हैं···क्यों···क्यों?'

एक दीर्घ आर्तनाद-सा 'क्यों' नाना के होठों से फूटा और वे सहसा मौन हो गए। प्रिया ने देखा, वक्ष पर हाथ वांधे, पलकें मूंदे वावा, होंठ कसे किसी चीत्कार को पी रहे थे···।

'लेकिन बेटी—' बाबा का मुख इतना आहत-सा हो उठा कि प्रिया
देखा, अभी जिस वसन्त की याद में वह झुर्रियों वाला मुख खिल-सा उठा था
उसी पर तो एक-एक झुर्री में जैसे एक-एक चोट उभर आई थी। क्या इसलिए
आयु के अन्तिम प्रहर तक पहुंचते हर मुख झुर्रियों से भर उठता है…? बदरंग
हो जाता है या हर मुख के रंग छीन लिए जाते हैं, नियति द्वारा, संसार द्वारा,
या हर मुख को जिन्दगी द्वारा इतनी चोटें दी जाती हैं कि वह घावों से अर्थात्
झुर्रियों से भर उठता है। शिशु के कोमल, स्निग्ध कपोलों पर एक भी झुर्री
नहीं होती, चाहे वह महल में जनमा हो या झोंपड़ी में। फिर यौवन कपोलों
को, आंखों को, ओठों को रूप, रस और गन्ध दे जाता है…फिर धीरे-धीरे ये रूप,
रस और गन्ध मिटने लगते हैं और निन्यानवे प्रतिशत तो हर मानव के अस्तित्व
का अन्तिम प्रहर सूना और अंधेरा हो उठता है। रात हर मुंदती पलकों पर
उतरती है, किन्तु तारों जड़ी नहीं, अधिक से अधिकतर स्याह अंधेरीवाली ही।
दार्शनिक कहेंगे—यह जीवन का नियम है कि मृत्यु होगी ही। विज्ञानी कहेंगे—
अरे भई! आप व्यर्थ ही झुर्रियों को फिलासफी से जोड़ते हैं…बुढ़ापा आता है
तो शरीर की रस-ग्रंथियों का रस सूखने लगता है अतः झुर्रियां पड़ने लगती
हैं, अंग-अंग का क्षय होने लगता है। जैसे किसी शिशु का जन्म नारी-पुरुष के
प्राकृतिक संयोग का परिणाम होता है—चाहे वह संयोग बलात्कार ही क्यों
न हो, वैसे ही मृत्यु भी विज्ञान की दृष्टि से शरीर के हर अंग का एक नियम-
बद्ध अन्त है…मशीनरी का रुक जाना है।'

किन्तु क्या…मानव केवल प्राण या आत्मा है, या मनुष्य केवल देह है?
क्या मनुष्य बिना खाए-पिए जी सकता है या देह की हर भूख और प्यास तृप्त
होने पर भी, मन-प्राण अतृप्त रह जाते हैं? प्रिया का एक विषय मनोविज्ञान
था, अब वह साहित्य पढ़ाती है। बाबा का सान्निध्य उसे कालिदास से टैगोर
क को सुनाता रहता है। समाचार-पत्रों में आए-दिन मानव की प्रकृति पर
जय के धमाके जैसे समाचार होते हैं…और फिर भी यौवन की दहलीज पर
ही प्रिया की विशाल आंखें कहीं टिक ही नहीं पातीं…वे दिग्-दिगन्त में

टकराती हैं धरती से आकाश की दूरियां नापती रहती हैं···और अपने सारे ज्ञान-विज्ञान और कला की सामर्थ्य के बावजूद प्रिया को लगता है, वह या मां सौदामिनी या नानी राधारानी सभी अपनी-अपनी परिधि में चक्कर खाती रह गई हैं···। नानी के समय से प्रिया का समय आने तक, प्रकट में समय बहुत आगे बढ़ चुका है, प्रगति कर चुका है, बदल चुका है। अब नारी को स्वेच्छा से विवाह का ही नहीं, तलाक का भी अधिकार मिल चुका है। गर्भपात तक कानून की मान्यता प्राप्त कर चुका है—किन्तु···किन्तु···प्रिया का सिर सचमुच चकराने लगता है···ऊपर से इन सारे अधिकारों की प्राप्ति के पश्चात् भी क्यों मां की और उसकी स्वयं की आंखों में एक-सी भटकन है। चित्रा की आंखों में भी यह भटकन उभरी थी तो वह उन्मादिनी ही उठी थी···

प्रिया ने रामी धोबिन से लेकर राजकुमारी रतना तक की आंखों में नारीत्व की यह प्यास, यह भटकन देखी है। रामी धोबन ने पूरे दर्जन जने हैं, फिर भी उसका धोबी उसे मारता-पीटता है···कोई न कोई शिशु छाती से सटा होता है और वह अपने धोबी को गालियां देती भी, पर्व-त्यौहार पर अपने सुहाग की कामना किया करती है। यदि किसी दिन नहीं पिटती या उसका धोबी उसके लिए साड़ी ले आता है, तो मगन हो उठती है।

और राजकुमारी रतना के प्रेम की कथा तो समाचारपत्रों में छप चुकी है कि कैसे एक राजकुमारी ने एक साधारण तरुण से प्रेम की खातिर राजमहल के सारे सुखों को ठोकर मार दी···। पिता की एकलौती बेटी होने पर भी प्रेमी की खातिर राजकुमारी ने अपने सारे अधिकार छोड़ दिए । रामी धोबन से राजकुमारी रतना तक, बाबा सच ही कहते हैं······'एक बिन्दु पर हर नारी 'पगली' ही होती है।'

मां के प्रति चित्रा दीदी ने वैसे गलत नहीं कहा था कि केशव जी को देख कर तुम्हारे चेहरे का रंग क्यों बदल जाता है? यद्यपि चित्रा ने उसे एक 'लांछन' के रूप में कहा था, किन्तु प्रिया उसे लांछन के रूप में नहीं ले पाती··· उसका तो जी चाहता है कि उसकी मां का जड़ हो उठा मुख उन्हीं रंगों से स्पन्दित हो उठे···वह जानती है कि उसकी मां ने जीवन-भर एक तप किया है और मां के मुख पर झलक आते उन रंगों में पूजा की सी ही पवित्रता होती है, जैसे देवी की प्रतिमा को केसर का तिलक लगा दिया गया हो···। किन्तु हर देवी की प्रतिमा मन्दिर में ही स्थापित हो सके, ऐसा कहां हो पाता है···? प्रतिमा की स्थापना के लिए फिर संगमरमर का न सही, ईंट-पत्थर का तो

मन्दिर चाहिए ही ···किन्तु ईंट-पत्थरों से मन्दिर उठाने के स्थान पर, दुनिया पहले तो उन्हीं ईंट-पत्थरों का प्रयोग, मार-मार कर उन देव-प्रतिमाओं को खंड-खंड करने में करती है···कदाचित् मां सौदामिनी ऐसी ही खंड-खंड हो उठी प्रतिमा है :

मा ने भी कहा है—पहले बाबा की कहानी सुन ले प्रिया ···फिर मेरी गाथा को सुन लेना—और बहुत दीर्घ निःश्वास लेती वे प्रिया को देरतक देखती रहीं थीं······फिर धीरे से उसे वक्ष से सटाकर सिसक उठी थीं। प्रिया अब अबोध नहीं रह गई थी जो सिसकती मा के साथ रोने लगे। जीवन-जगत् के बोधों से बोझिल हो उठे प्रिया के वक्ष में आंसू देखकर एक चीत्कार-सा उठता है—प्रकट में वह चुप रह जाती है, मां को रोने से भी नहीं रोकती—मनोविज्ञान का एक नियम याद आता है—रोने से मन हलका हो जाता है···जो रोना चाहते हैं, उन्हें रो लेने दो, अन्यथा वे पागल हो सकते हैं। फिर रोने से लाल हो उठी मां की आंखों में प्रिया रात को गुलाब-जल डाल देती है—सवेरे मा की आंखें फिर सामान्य होती हैं—सामान्य अर्थात् पथराई-सी।

'अरे ले प्रिया, सबसे प्रमुख—उसे क्या कहते हैं तेरी अंग्रेजी भाषा में इम्पोर्टेंट—बात तो मैं बताना ही भूल गया। उस दिन धर्मशाला के मैनेजर ने जो जबर्दस्त पिटाई करवाई थी तो रवि का एक हाथ, हां बेटी, यही दाया हाथ, कन्धे के जोड़ से टूट गया था···फिर शक्ति-भर प्रयास करने पर भी जुड़ नहीं सका···रवि से उसकी डोंगी छिन गई "बांसुरी भी" बस हाथ, डोंगी और बांसुरी गंवाकर रवि ने राधा को पा लिया था और उसे यह सौदा घाटे का नहीं लगा था। किन्तु राधा पगली, बेवकूफ राधा रात-दिन रोती रहती—मेरे कारण तुम्हारी यह दुर्गति हुई मैं मर जाती तो अच्छा था··· लाख मनाने पर भी रवि राधा को चुप नहीं करा पाता था। गर्भ के बढ़ते भार और रवि की दुर्दशा के कारण राधा टूट गई···उसका मुख धीरे-धीरे इतना पीला हो गया कि सरकारी अस्पताल में सौदामिनी को जन्म देती राधा को देखते ही डाक्टरनी ने निर्ममता से साफ-साफ कह दिया था—यह बचेगी नहीं।

'रवि की आंखें डाक्टरनी के ओंठों से उस निष्ठुर सच को सुनते ही बरसने लगीं। वह बिलख-बिलखकर रोने लगा था, किसी बच्चे जैसा फूट-फूटकर। रवि तब तक ऐसे कभी नहीं रोया था—न मा की मृत्यु पर, न मैनेजर से पिटकर न उस समय ही, जब कन्धे से उसकी बांह टूटकर झूल गई थी··· और असह्य दर्द से वह अचेत होता जा रहा था···।

'डाक्टरनी ने अपना चश्मा उतारा, फूट-फूट कर रोते रवि को ध्यान से देखा, पूछा—तुम काम क्या करते हो ? सरकारी अस्पताल में रोगियों की कराहती भीड़ भरी हुई थी। किसी न किसी दर्द से अभिशप्त चेहरे, जीवन से मृत्यु की ओर बढ़ते घिसटते, कराहते कदम, दबी-दबी चीखें, घुटी-घुटी सांसें। जरा-सा भी जोर से चीखने पर डाक्टरनी चीख पड़ती थी—शट-अप ! शोर मत करो !

'जी, मेमसाब, रेलवे-स्टेशन के पास खोंमचा लगाता हूं···और कोई काम कर नहीं सकता।' रवि ने अपनी बाईं निर्जीव-सी झूलती बांह की ओर संकेत किया।

ओह !—डाक्टरनी ने फिर चश्मा लगा लिया था। चश्मा चढ़ाने के पहले पल-भर के लिए आंखें मूंदी थीं—तब तो फिर मुश्किल है। तुम्हारी बीवी को बचाने के लिए अच्छे इलाज की, अच्छी खुराक की जरूरत है, जो शायद तुम जुटा नहीं सकोगे। फिर भी मैं ये दवाइयां लिखे दे रही हूं। कोशिश कर देखो।—रवि के कांपते हाथों में दवाओं का 'प्रेस्क्रिप्शन' देते डाक्टरनी की उंगलियां भी शायद पल भर कांपी थीं, दूसरे ही क्षण उनका रूक्ष स्वर चीखा था—'नेक्स्ट्'···दूसरे मरीजों को भेजो।—रवि ने निकलते-निकलते देखा, एक कराहती बुढ़िया गिरती-पड़ती डाक्टरनी के सामने आ खड़ी हुई थी—साठ के करीब होगी···उसकी राधा तो बीस की भी नहीं है। किन्तु आसन्न मृत्यु की छाया उस बुढ़िया की धुंधली आंखों और राधा की उज्ज्वल आंखों में एक-सी स्पष्ट हो उठी थी—'हे भगवान ! अगर तुम कहीं हो तो मेरी राधा को बचा लो, राधा को मुझसे मत छीनो—विक्षिप्त-सा रवि एक खंडहर-से मन्दिर की चौखट पर सिर पटक रहा था।

'सात दिन की आसन्न-प्रसवा राधा को रिक्शे में बैठाकर एक बांह से घेरे, संभालता रवि, राधा की गोद में सिमटी उस नन्हीं-सी बच्ची को बार-बार देख रहा था जो उसकी और राधा की एकात्मता की प्रतीक थी··· नन्हें-नन्हें हाथ-पैर, नन्हा-सा गुलाबी मुख, बिलकुल गुड़िया···किन्तु निर्जीव नहीं, एक सजीव स्पन्दित प्राण···। अब इसे भी जीवित रखने के लिए दूध चाहिए।···तभी वह गुड़िया रोने लगी थी और राधा ने उसे स्तन से सटा लिया था। रवि ने देखा, राधा के उरोजों का उभार, दूध से भरकर और भी

भरपूर हो उठा था···राधा का मुख बिलकुल पीला पड़ गया था···किन्तु, जैसे उस मुख पर एक पीताभ आभा जगमगा उठी थी···।

'मेरी चिन्ता मत करो, अब मैं अच्छी हो जाऊंगी ··तुम इतने दुबले क्यों हो गए हो ठीक से खाना-पिया नहीं होगा, चलो, आज तुम्हें हलवा खिलाऊंगी, बाप बनने की खुशी में···खाओगे न, तुम्हें मेरी कसम!' राधा का स्वर बहुत धीमा, किन्तु बहुत स्पन्दित था···बहुत तरल, अति आर्द्र···जैसे वह जिन्हीं आंसुओं को शब्द दे रही हो।

'फिर कसम खिला रही है कम्बख्त! अब कसम दी तो सचमुच पीटूंगा। अभी मेरा एक हाथ बाकी है।—रवि ने आंखें तरेरीं।

'तुम, और मुझे पीटोगे? तब सूरज कल पश्चिम से निकलेगा! —राधा एक निरभ्र हंसी हंसने लगी थी विश्वास की, प्यार की एक निर्मल, पारदर्शी हंसी—जिसमें रवि अपने 'प्यार' को राधा के 'स्नेह' को, दोनों के मोह को, विराग को आर-पार देख सकता था।

'रेलवे कुलियों की चाल में, उस तीन रुपये महीने की कोठरी में राधा को बच्ची सहित, रिक्शे से उतारता रवि रिक्शेवाले से झगड़ने लगा था—वाह, इत्ती-सी दूर का एक रुपया···जा, नहीं देता···दस आने लेने हैं तो ले।'

'रिक्शेवाला बांहें चढ़ाने लगा था—वाह रे हरामी! तेरे को अपने जैसा गरीब, बेचारा समझकर भाड़ा तय नहीं किया तो तू हरामजदगी पर उतर आया निकाल पूरा एक रुपया। तीन मील लाद कर लाया हूं।

'दे दो न जी। आज किसी से झगड़ा मत करो। ये लें रिक्शेवाले भाई, मैं देती हूं।—राधा ने आंचल की गांठ से एक रुपया निकालकर फेंक दिया।

'कैसे झगड़ालू हो उठे हो जी तुम? ठीक तो कह रहा था बेचारा रिक्शेवाला। इत्ती दूर का क्या एक रुपया भी नहीं दोगे?—राधा बच्ची को टाट के टुकड़े पर, अपनी एक फटी-पुरानी साड़ी का गदेला-सा बिछाकर सुला रही थी।

'हां-हां, वह रिक्शेवाला बेचारा है और मैं बेईमान! झगड़ालू! अब और कुछ भी कहना हो तो कह ले।—रवि किसी आवेश या विवशता से कांपने लगा था।

'अरे! तुम तो गुस्सा हो गए। सात दिन बाद घर आई हूं—अब मेरी मांग ही नहीं, गोद भी भर गई है···सब-कुछ तो मिल गया है मुझे···। और

ी शुभ घड़ी में तुम गुस्सा कर रहे हो…? चलो, ठंडे हो जाओ, नहीं तो
र कहूंगी—मेरी कसम।

'रवि ने पागल-सा बढ़कर राधा को एक बांह से जकड़ लिया…उसकी पलकों
ो पागल-सा ही चूमने लगा—बार-बार…! राधा ने वे घनी स्याह पलकें
ूंद ली थीं…पता नहीं, आंसू छिपाने के लिए या रवि के चुम्बनों को उन मुंदी
पलकों में वन्द कर लेने के लिए…? रवि ने राधा के कानों से ओंठ सटा कर
कहा—

आ जा मोरे प्रीतमा, पलक झांप तोहे लेउं।
ना मैं देखूं और को, ना तोहे देखन देउं॥

'क्यों री, इसका मतलब समझ में आया?'

'क्या मैं इतनी बेवकूफ हूं जो इसका मतलब भी नहीं समझ सकती?—
राधा ने मान-भरी आंखों से रवि को देखा…मैली साड़ी में लिपटी, उस
अंधेरी-सी कोठरी में रवि को, उन मान-भरी आंखों से देखती राधा, रवि को
राजरानी सी लगी…! काश, राधा राजरानी होती…हो सकती · काश।
राधा को कांटों से नहीं, फूलों से तोला जा सकता…।

'किन्तु, राधा के चारों ओर तो कांटे और दंश ही बिखरे थे। छः महीने
से वे उस कोठरी में रह रहे थे। वे उस कस्बे से भागकर, इस शहर में आ बसे
थे। राधा ने अपने हाथों, अपनी मांग में सिन्दूर भर लिया था। रवि को
छोड़कर वह किसी की ओर ताकती भी नहीं थी…। लेकिन, सरकारी
नल से पानी भरने जाती, तो उन टके की औरतों में भी चेमेगोइयां होतीं, ताने
कसे जाते—आय हाय! क्या रूप है और क्या जवानी! बेचारी से घड़ा भी
नहीं उठाया जाता…जरा इससे पूछो री, ये है कौन? मां-बाप, जात-पांत
किसी का पता है? हां, हंडिया-सा पेट तो हमें भी दिखाई दे रहा है…पत
नहीं, वो छोकरा इसका खसम है या यार!' राधा ने ओंठ सी लिये थे, वा
बिलकुल चुप बनी रहती।

'वे टके-के मर्द भी मूंछें ऐंठते, सीने पर हाथ मारते, अश्लील फब्तिय
कसते—मां-कसम! कैसी बांकी चितवन है, कैसी गदराई जवानी…! ज
ये जन ले, फिर देखते हैं, इसको और इसके यार को। अरे, इसे इस कोठरी
नहीं, किसी कोठे पर होना चाहिए कि सैकड़ों का दिल आबाद करे…बेक
बरबाद हो रही है।—राधा कोठरी का दरवाजा बन्द करे रात-दिन कुढ़

रहती, रवि से भी एक शब्द न कहती। मसालेदार चने उबालकर, आम की चाट बनाकर, कभी-कभी पकौड़े भी तल कर खोमचा भर कर, एक छोकरे के सिर पर खोमचा लदवाकर, रोज सवेरे आठ बजे रवि को विदा कर देती। खोमचे के एक कोने में ज्वार की चार रोटियां और रवि की पसन्द की कोई सब्जी, एक कपड़े में बंधी रवि को रोज मिल जातीं...उस पोटली पर जैसे अदृश्य अक्षरों में लिखा हो—ठीक से खा लेना, तुम्हें मेरी कसम!

'शाम को लौटते ही रवि पूछता—क्यों री कैसी है? कुछ खाया-पिया... क्या करती रही सारे दिन? —फिर अक्सर कागज में बंधे दो पेड़े राधा के मुंह में ठूंस देता, राधा को आम के अचार के साथ पेड़ों की ललक बनी रहती थी, उन दिनों।

'दोनों मुझे खिला दिए, एक तुम खाते।'—राधा नाराज होने लगती।

'अरी...! तुझे क्या पता, मैं कितने पेड़े खाता रहता हूं, बिना दमड़ी खर्च किए" तू क्या पेड़ों से कम मीठी है, अरी, तू तो पेड़ों की पूरी दुकान है री!'

राधा लजा जाती, किन्तु उन पीताभ कपोलों पर रक्त के अभाव में अब लाली बिखरनी बन्द हो गई थी...राधा की देह दिन-प्रतिदिन रक्तहीन हुई जा रही थी।

रवि सामर्थ्य-भर दवा-दारू कर रहा था, किन्तु देख रहा था कि राधा की सांसें निश्चित रूप से शेष हुए जा रही हैं। वह मृत्यु की प्रतिदिन निकटतर आती पगचाप को अपना सारा जोर लगाकर 'अनसुना' कर रहा था" किन्तु पगचाप थी कि स्पष्टतर हुई जा रही थी...

और फिर तीन महीने की बच्ची को रवि की गोद में देती, ज्वर में तपती, अचेत होती राधा ने उस रात कहा—मुझे वचन दो! तुम इसे मुझ-जैसा ही प्यार दोगे...बाप का प्यार ही नहीं, मां की ममता भी दोगे।

'रवि हिल गया—ऐसा क्यों कह रही है री। तू अच्छी हो जाएगी... जरूर अच्छी हो जाएगी...अपने दिन भी बदलेंगे' फिर इस गुड़िया को एक भाई और होगा, फिर एक बहन और फिर...'

राधा हंस पड़ी—हां, हां पूरे बारह पैदा करवाना मुझसे! पहले इस एक को संभालो...मैं जरूर अच्छी हो जाऊंगी...जरूर...और अपने दिन भी बदलेंगे। लेकिन आज जी जाने कैसा हुआ जा रहा है "जरा अपने हाथ से मेरी मांग में ढेर सारा सिन्दूर तो भर दो, माथे पर भी सिन्दूर की बिन्दी लगा दो और वह मेरी लाल चुनरी भी मुझे पहना दो' तुम कहते थे न, मैं उन

ाल चुनरी में तुम्हें बहुत भाती हूं।

रवि विक्षिप्त-सा, राधा जो-जो कहती गई, करता गया। उस रात तेल चुक गया था, अतः ढिबरी भी नहीं जलाई जा सकी थी। रवि थक कर सो गया था। सवेरे बच्ची के चीख-चीख कर रोने से जागा तो देखा, राधा चिर-निद्रा में शान्त हो चुकी थी…मृत्यु के सन्नाटे के बीच केवल राधा के पार्श्व में पड़ी बच्ची दूध के लिए बिलबिलाती रोये जा रही थी…। किन्तु जड़ हो उठे रवि की आंखों में एक भी आंसू नहीं आया।

'राधा को फूंककर लौटता रवि सचमुच बेईमान हो उठा। कोठरी का चार महीने का किराया बाकी था, कुछ और भी देना था। वह सब चुकाए बिना, टीन की सन्दूकची में अपना सारा सामान, दो-चार बर्तन, 'वही कम्बल' कुछ कपड़े-लत्ते समेटकर, अपना कुछ भी छोड़े बिना, रवि बच्ची को उस हिलते हाथ से सीने से सटाये, दूसरे हाथ में सन्दूकची उठाये रात के अन्धकार में भाग निकला…फिर बिना टिकट रेल में जा चढ़ा…टिकट-चेकर आता तो संडास में छिप जाता…एक रात का सफर तय कर, सवेरे के धुंधलके में एक छोटे-से स्टेशन पर उतरकर, कांटों की बाढ़ फांदकर स्टेशन के पीछे से भाग निकला। उस समय रवि के पास करीब सौ रुपये थे। यदि वह ईमानदार बनता तो उन रुपयों में से एक न बचता…। बच्ची को सीने से सटाये, जैसे राधा की याद को ही अपने पोर-पोर में भरे, रवि उस नन्हीं-सी जान के लिए जीने का, दुनिया से टक्कर लेने का साहस या जीने का होश बटोर रहा था…पता नहीं, वह सारे होश खो चुका था, या पूरे होश में आ चुका था ?…उसका तन-मन, उसकी सांस-सांस उस बच्ची पर केन्द्रित हो उठी थी, हां, अपना होश शायद उसे सचमुच नहीं रह गया था।'

अपनी कहानी के उस चरम पर पहुंचते बाबा हांफने लगे थे…जोर-जो से सांसें ले रहे थे, जैसे वे घुट गई सांसों को मुक्ति देना चाह रहे हों…जै वर्षों की थकन और टूटन का बोझ उतारकर हलके हो जाना चाह रहे हों प्रिया उनका हांफता वक्ष सहलाने लगी थी, 'बहुत कष्ट है बाबा…?' 'न बेटी, अब कोई कष्ट नहीं…! बाबा निढाल होकर, स्थिर हो गए थे।

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः···' दुहराते बाबा ने पलकें मूंद लीं···उस झुर्रियों वाले मुख पर जैसे प्रार्थना के क्षण ठहर गए थे।

प्रिया स्तब्ध थी, मौन, निर्वाक्। बाबा के मुख पर केन्द्रित उसकी आंखें भी जैसे एक प्रार्थना को दुहराने लगी थीं। न जाने कब दिन ढल गया था, शाम हो आई थी। ऐसे ही जाने कब जीवन बीत जाता है। जीवन की भोर, दोपहर, सांझ···और रात घिर आती है। क्या हर उगता-ढलता दिन; जिन्दगी की, जनम से मरण तक की, विभिन्न प्रहरों-भरी यात्रा का प्रतीक नहीं···? हां, जाने कब दिन ढल जाता है, रात घिर आती है··· और अधिकतर पलकें तारों-जड़ी रात को आंखों में नहीं भर पातीं, उनमें स्याह अंधेरे भर कर रह जाते हैं। क्यों हर यात्रा का अन्त पराजय ही होता है? क्यों महान् सम्राट से लेकर अपाहिज भिखारी तक एक शून्य के अतिरिक्त अपने साथ कुछ नहीं ले जा पाते? संसार-विजय का स्वप्न संजोये, उस स्वप्न को साकार करने की रक्त-रंजित धुन में, सिकन्दर महान् विजय पर विजय प्राप्त करता भी अन्तिम क्षणों में कितना पराजित हो उठा था···कि मृत्यु के समय उसने कहा था—'मुझे पूरा कफन से ढंक देना, किन्तु मेरे खाली हाथ बाहर लटकते रहने देना कि दुनिया देखे, सिकन्दर महान् भी इस असार संसार से खाली हाथ ही जा रहा है।' इतिहास कहता है—सिकन्दर महान् एक महान विजेता था···! जिन्दगी कहती है—'नहीं, सिकन्दर महान् भी पराजित था।' बाबा ने जाने कितनी बार सिकन्दर का यह दृष्टान्त प्रिया को सुनाया था—जैसे वह दृष्टान्त उनका एक जीवन था या जीवन-भर का एकमात्र अनुभव।

बाबा ने जाने कितनी देर बाद पलकें खोलीं···मौन, स्तब्ध, निर्वाक् प्रिया की हथेली दबाते हंसे—'अरे पगली बिटिया! कहां खो गई? कहानी खतम, पैसा हजम। आज क्या बाबा को चाय भी नहीं पिलाएगी···? कहानी, बस कहानी होती है, बेटी, उसे सुन लेना चाहिए, भुला देना चाहिए, वरना जिन्दगी को ये कहानियां याद रह गईं तो फिर इतिहास, भूगोल, साहित्य, विज्ञान सब भूल जाएगा···समझी?'

या को बाबा का वह स्पर्श, बाबा का वह कथन पराजित नहीं, विजयी
'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः....' में गीता की फिलॉसफी
हराते बाबा, वर्षों पूर्व मृत्यु की गोद में समा गई राधा की आत्मा के लिए
की प्रार्थना कर रहे थे···या अपनी अभी भी स्पन्दित आत्मा में युद्ध का
संचित कर रहे थे ? पता नहीं, बाबा कैसे समझ गए कि मन ही मन में
या गीता के इस श्लोक की बाबा के सन्दर्भ में व्याख्या कर रही है—'अरी,
ता का यह दर्शन, मेरे निकट आकाश का कोई ऊंचा तत्वज्ञान नहीं, इसी
रती की एक सीधी-सादी बात है···। हां, प्यार की एक सहज सच्चाई ! प्यार
को, प्रेम को भी न तो शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है ···। प्रकृति
के नियमों के अनुसार राधा की देह मर गई, संसार की दृष्टि में राधा की मृत्यु
हो गई···किन्तु राधा, मेरे मन में बसी राधा, मरी तो क्या, बूढ़ी भी नहीं हुई···
उन्नीस वर्ष की वह राधा अभी तक बीस की भी नहीं हुई ! अरे, कहीं तेरी
चिर-यौवना नानी इस सठियाते, बुढ़ाये बाबा को न छोड़ न दे···डर है तो केवल
इतना ।···

'तो समझ ले नातिन मेरी, 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः....'
की तत्वज्ञानियों ने, चिन्तकों ने, दार्शनिकों ने चाहे जितनी बड़ी-बड़ी व्याख्याएं
की हों, इस बुड्ढे की औंधी अकल में गीता का यह श्लोक, केवल राधा का व
हरनी-सी आंखों वाला, वह गुलाब की पंखुड़ियों-से ओंठों वाला, मुख बन
समाया रह गया है···हां, मेरी औंधी अकल में सारा तत्वज्ञान केवल तेरी न
का वह मुख ही है, जो देह की मृत्यु के स्याह क्षणों में भी, दीपक की पी
आभा···नहीं, सुनहरी आभा से जगमगा-सा रहा था ! वैसे, डाक्टर
शब्दों में राधा की मृत्यु पीलिया के कारण हुई थी···रक्त की एक भी ब
न रह जाने के कारण, वह मुख पीला पड़ते-पड़ते निस्पन्द हो गया था···
ओर तत्वज्ञानी, एक ओर वैज्ञानिक, सब अपने-अपने ढंग से जीवन
की मीमांसा करते रहे हैं, करते रहेंगे···लेकिन तेरे नाना के भेजे में
बात आती ही नहीं···इस बुड्ढे को तो आकाश के सूर्य या चांद से, ते
में महकती रातरानी की गन्ध अधिक भाती है, अधिक मोहती है···
अपने रसिक बाबा की रसिकता को क्षमा कर देना, जो इन पलों
सामने बेहया हो उठी है। वह बेहयाई किसी उर्दू शायर का यह शे
के आईने में है तसवीरे-यार,जब ज़रा गर्दन झुकाई, देख ली !'
का एक फोटो, मेले में खिचवाया था, लाल चुनरी पहने, ब

लगाये, अपने साथ। शायद उन सन्दूकची में पड़ा हो। देखोगी ?'

'नहीं बाबा, फोटो क्या देखूंगी ? नानी को तो तुम्हारी आंखों से साफ-साफ देख लिया है ? चाय लाती हूं। कुछ खाओगे…मुरमुरे ले आऊं ?'

'मुरमुरे ?' सहसा बाबा और प्रिया 'मुरमुरे' शब्द पर कांप-से गए। दोनों ने एक-दूसरे के उस कंपन को लक्ष्य भी कर लिया…। 'शायद, मां आ गई है, दरवाजा खटक रहा है…' प्रिया आंखें छिपाती-सी भाग गई… बाबा गुनगुनाने लगे थे—'अहा ! क्या ठंडी-ठंडी हवा है इस पंखे की ! बिलकुल मानो जमुना-तीरे, यमुना-तीरे…'

थकी-मांदी सौदामिनी की आवाज आ रही थी, 'महंगाई कितनी बढ़ गई है प्रिया, जितने रुपयों में महीने-भर का सामान आ जाता था, पन्द्रह दिन का आ पाया है…बाबा की इस दवा के दाम दुगने हो गए, चावल चार रुपये किलो, या फिर राशन के चावल नहीं, कंकड़-पत्थर खाए जाएं, हे भगवान् !'

सौदामिनी पसीना पोंछती हांफ रही थी, 'अच्छा हुआ, सचमुच अच्छा हुआ कि तेरी नौकरी लग गई…।' सौदामिनी 'धम्' से फर्श पर ही बैठ गई थी—'ओह मां। कितनी थक गई मैं …और कितना चलचल की है रिक्शेवाले ने। पूरे दो रुपये लेकर माना। पता नहीं क्यों, ऊपर से नीचे तक, हर तबके के आदमी के तेवर बदल गए हैं …कोई सीधे मुंह बात ही नहीं करता—खींच-तान, उठा-पटक, हाय-तोबा-सी मची हुई है। एक कप तेज चाय पिला बेटी, सिर दर्द से फटा जा रहा है।' सौदामिनी नंगे फर्श पर ही निढाल-सी लुढ़क गई।

चाय के खौलते पानी को एकटक देखती प्रिया, स्वयं इतनी खोई हुई थी कि माता की हांक पर चौंकी… 'अरे प्रिया, क्या शाम को चाय कल सवेरे पिलाएगी ? चाय बना रही है या सो गई है ?' हाथों में चीनी की प्याली प्रिया ने होश संभाले। 'सॉरी बाबा, अभी लाई, जरा हाथ-मुंह धोने लगी थी। आज जाने कैसी उमस-सी है।' और प्रिया को फिर लगा था—बाबा का अभाव, मां का सिर-दर्द और उसके स्वयं के भीतर घुटती उमस के संदर्भ चाहे भिन्न अलग हों, अर्थ एक ही है—एक विलक्षण पीड़ा—जो समय और स्थितियों की विभिन्नता के बीच भी मानव की एक-जैसी स्थिति बनी रहती है…। कहीं पढ़ी थी, एक छोटी-सी कविता, एक अंतिम, प्रिया को याद आयी—

दुःख मानव की नियति है
घूंट पर ये घूंट विष के,
है चुनौती अमरता को
झेल कर ही मृत्यु—
जीवन को मिला गौरव !

किन्तु, मृत्यु झेलकर भी जीवन को, हर जीवन को गौरव कहां मिल [पा]ता है···? मृत्यु तो हर प्राण झेलते हैं, गौरव इने-गिने ही पाते हैं···। हां, [इ]तना सत्य अवश्य है कि—'दुःख' हर मानव-अस्तित्व की निश्चित नियति है...अपने-अपने हिस्से का जहर पीना ही पड़ता है। बावा और मां के साथ चाय पीती प्रिया कदाचित् अपने हिस्से का कोई जहर भी पी रही थी—उन क्षणों।

एक सप्ताह बाद, दूसरे रविवार को, प्रिया देर तक नहाती रही। सवेरे की हलकी गुनगुनी रेशमी धूप में केश सुखाती रही। फिर ढीली चोटी गूंथ एक गुलाब अपने हाथों केशों में टांक लिया। अपने गुलाबी कपोलों जैसी ही गुलाबी साड़ी पहनी। देर तक दर्पण में अपने गुलाबी ओंठ, रतनारी आंखें, और घने रेशमी स्याह केशों की परिधि में और भी उज्ज्वल हो उठे मुख को देखती रही···अपने ही भरपूर रूप का एक 'दर्प-सा' प्रिया की उन कानों तक फैली आंखों में फैल गया···।

इस रूप के लिए बाबा सच ही तो कहते हैं··· 'अरी मृगेक्षिणी, शरद-चांदनी, ओ प्रियदर्शिनी प्रिया···!' बाबा कई बार पुलकित होते उसके जन्म का संस्मरण भी सुनाया करते हैं— 'तू सवेरे के घुंधलके में जनमी थी···भोर के उजास में जब दाई तुझे नहला-धुला कर, एक चिथड़े में लपेटे मेरे सामने लाई तो मैं तो बेहोश होते-होते बचा···बाप रे, यह लड़की है या भोर की उजास ही ने ही एक उज्ज्वल, कोमल, नन्हा आकार ग्रहण कर लिया है··· तूने पलकें फड़फड़ाई थीं···नन्हें उज्ज्वल मुख पर जड़ी कान तक खिंची बड़ी बड़ी आंखें···उन आंखों पर धनुष सी खिंची भौंहें···और घने रेशमी केश··· तेरा बाबा तो आंखें मिचमिचाता रह गया था···। न, सौदामिनी इतनी रूप-वती थी, न चित्रा···फिर इस घर के घूरे में गुलाब खिलाने की विधाता···

क्या जरूरत थी ···? इस गुलाब की कली को तो किसी राजमहल की वाटिका में खिलना चाहिए था । तेरा बाबा आनन्द और पीड़ा की मांसें साथ-साथ लेता रह गया था···फिर सब कुछ भूलकर कालिदास से चंडीदास तक को दुहराता सोचने लगा था—इस अजर रूप की छोटी सी स्वामिनी को, जो कवि की सारी उपमाएं समेट गई है, क्या नाम दिया जाये, अर्थात् रूप के इन सारे विशेषणों को कौन-सी संज्ञा दी जाए···? तेरा पागल बाबा, पूरे तीन दिन तेरे नाम की 'संज्ञा' रात-दिन सोचता-ढूंढता रहा—अचानक मन में कौंधा था—क्यों न नारीत्व की, अनेक कोमल विशेषणों से रची गई गुड़िया को, नारी के चिरन्तन विशेषण की ही संज्ञा दे दी जाए···? और तेरे बाबा ने तुझे पहली बार गोद में लेते, चूमते कहा था 'प्रिया !' मेरी नन्ही गुड़िया, तेरा 'प्रियात्व' सुखी हो, तृप्त हो··। तेरा नाना केवल यह आशीर्वाद देता है··· और तूने प्रत्युत्तर में क्या किया था, जानती है, बाबा की धोती गीली कर दी थी ।'

यह सब सुनती, प्रिया मुसकराती, झेंप जाती। आज दर्पण में अपने भरपूर हो उठे रूप को स्वयं अपनी ही मुग्ध दृष्टि से निहारती प्रिया सोच रही थी—मां ने कई बार कपाल ठोंक कर कहा था—'पता नहीं, इतना रूप क्यों दिया विधाता ने तुझे ? सीता को दिया था तो राम के रामत्व के लिए वह जीवन-भर अग्नि-परीक्षा देती रही···राधा को दिया था तो कृष्ण को बावला बनाती वह स्वयं बावली होकर रह गई थी···कृष्ण तो होश में आ गए थे। राम और कृष्ण जैसे अवतारी पुरुष भी जब सीता और राधा के रूप को पुरस्कृत से अधिक दंडित करते रहे···तो इन साधारण मां की कोख से जनमी, तुम अभागिन को कौन अवतारी पुरुष मिलेगा जो तेरे तन-मन को सजा कर, संजो कर रख सके ! अरे बेटी, ये पिशाच, ये नर-पिशाच, रूप के लोभी गिद्ध, जीते-जी ही अभागिन नारी को लाश की तरह नोंच खाते हैं··कैसे बचाऊंगी तुझे इनसे ?' अबोध प्रिया पूछ बैठती थी— 'ये गिद्ध क्या होता है मां, कोई जानवर या आदमी ?—'आदमी'···! कहती सौदामिनी का स्वर थरथरा जाता था।

'मां, बहुत दिनों से तुमसे कुछ कहना चाह रही हूं, सुन सको तो कहूं।' प्रिया ने मां के गले में बाहें डाल दी थीं, लिपट गई थी।

'मुझे मालूम है, तुझे क्या कहना है ?' सौदामिनी ने रूक्षता से प्रिया को
रे कर पर्स में से एक पत्र निकालकर प्रिया के सामने फेंक दिया ।

प्रिया ने पत्र उठाया, पढ़ा, सन्न रह गई। पत्र देवदास का था, लिखा
था—'और कितनी प्रतीक्षा करूं प्रिया…? तुम पारो न भी बन सको, किन्तु
मैं तो देवदास हूं, रहा आऊंगा। किन्तु मैं शरत् का वह देवदास भी नहीं कि
किसी चन्द्रमुखी के घुंघरुओं की झनकार में अपने वक्ष की धड़कनों को अन-
सुना कर सकूं, या फिर शराब के जाम में अपने आप को डुबा सकूं, गम गलत
करने के लिए…और, अभी तो मरने से भी डर लगता है। तुम जानती हो,
देवदास अभी अकिंचन ही है। न सिर पर मां-बाप का साया है, न अभी नौकरी
ही मिल पाई है…। बस, आंखों में तुम्हारा रूप बस गया है, मन में तुम…
केवल तुम…गूंजती रहती हो! मां से बात कर देखो न। उनसे कहना, देवदास
के पास प्रिया के लिए 'प्यार' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अभी तो। क्या
वे मेरे इस 'प्यार' पर विश्वास कर सकेंगी ? तुमसे कुछ पूछने की जरूरत नहीं
समझता…तुम्हारी उन पागल कर देनेवाली आंखों की भाषा मैं पढ़ चुका हूं…
तभी तो पागल हो गया हूं…किसी उत्तर की प्रतीक्षा में पल-पल गिन रहा हूं…
अब और सहा नहीं जाता—देवदास।'

प्रिया ने कठोर दृष्टि से देखती मां की ओर देखा, आंखें नीची कर लीं—
'मां, और सब तो देवदास इस पत्र में स्वयं लिख गया है…विश्वास करो मां,
वह एक वर्ष से प्रतीक्षा के पल गिन रहा है…और उसने अब तक मेरी उंगली
भी नहीं छुई है…और कुछ हो न हो मां, देवदास निर्दोष है…। इस युग औ
इस उम्र में ऐसी निर्दोषिता मैंने तो कहीं और नहीं पाई मां…हां, पग-पग प
कलुषित पुरुष-दृष्टियों का सामना किया है…उन आंखों में केवल लोभ होत
है, कुत्सा होती है…सचमुच वे सब 'गिद्ध' होते हैं! तुम कहा करती थीं न—
'गिद्ध जानवर नहीं, 'आदमी' होता है। विश्वास करो मां, देवदास गिद्ध न
देवदास भौंरा भी नहीं, उसने अब तक मेरी उंगली भी नहीं छुई है…' प्रि
का स्वर आवेग से उच्छ्वसित हो उठा था…वह भी सीधे मां की आंखे
देख रही थी।

किन्तु, सौदामिनी की दृष्टि से अधिक, स्वर कठोर हो उठा— 'बस-
रहने दे। बहुत देखे ऐसे उंगली न छूनेवाले। बस, दो दिन ये उंगली नहीं
फिर यदि कलाई पकड़ने को मिल जाये तो कलाई मरोड़ कर रख देते है
अच्छा, यह भी जाने दे। माना, देवदास उनमें से नहीं, निर्दोष कोटि का

सच पूछ, तो मैं भी काफी पसन्द करती हूं उसकी निर्दोषिता को। और यह भी माना कि वह तुझसे प्रेम करता है। किन्तु···क्या वह केवल 'प्यार' से तेरी आवश्यकताओं को पूरी कर सकेगा, क्या प्यार से तेरा पेट भर सकेगा, प्यास बुझा सकेगा, तन ढक सकेगा···फिर बाल-बच्चे होंगे तो उन्हें पाल सकेगा? तुझसे प्यार का निर्वाह नहीं, जिन्दगी का निर्वाह कर सकेगा—एक पुरुष की तरह? तुझे सुरक्षा दे सकेगा, छांह दे सकेगा···बोल, जवाब दे न? बी०ए० में फेल होते-होते बचा, तो क्या तेरी कमाई खायेगा? यह 'प्यार-प्यार' सब एक नासमझी है, यह तेरी और उसकी उम्र की भावुकता का एक दौर है। निष्ठुर जिन्दगी कसकर एक तमाचा जड़ दे, तो ऐसे देवदास, पारो को छोड़ कर भाग निकलते हैं, मुड़कर भी नहीं देखते। औरत को प्यार से अधिक सुरक्षा चाहिए, एक ठोस छत सिर के ऊपर और एक ठोस जमीन का टुकड़ा पैरों के नीचे! घोंसले आकाश में नहीं बनाये जाते।'

प्रिया, मां के एक-एक शब्द को ध्यान से सुनती, पाषाण-प्रतिमा-सी निश्चल हो उठी थी। फिर केशों में अपने हाथों टांका गुलाब निकाल कर फेंकती बोली, 'शायद तुम ठीक कहती हो मां। मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं करूंगी। देवदास से कह दूंगी, वह मेरा ध्यान छोड़ दे, या फिर पहले सिर के ऊपर छत और पैरों के नीचे जमीन का इन्तजाम करे।' प्रिया की आंखों के सारे इन्द्रधनुषी रंग बुझ गए··· उनमें विषाद के अंधेरे घिर आए। वह उस धरती पर पड़े गुलाब को देखे जा रही थी, जिसे अभी कुछ देर पहले उसने स्वयं लगाया था, स्वयं निकालकर फेंक दिया था···।

सौदामिनी आर्द्र हो उठी, वह आर्द्रता आंखों से स्वर तक में उमड़ आई थी, 'बुरा मान गई प्रिया? माफ कर दे मेरी बच्ची, अपनी इस पाषाणी मां को, जो स्वयं तो पत्थर होकर रह गई है···किन्तु तुझे पथराते नहीं देख सकूंगी। मैं भी तेरी मांग में सिन्दूर, तेरी गोद में नन्हे-मुन्ने देखना चाहती हूं। तेरे ब्याह का कितना चाव है मुझे, जाने कितनी हसरतें पूरी करनी हैं।··· लेकिन ठोक-बजाकर ही तुझे किसी को सौंपना है कि वह तुझसे खिलवाड़ न कर सके। मैं तुझे जीवन-भर का सुख-सुहाग देना चाहती हूं बेटी! और प्रयास कर रही हूं कि जल्दी से जल्दी तेरे हाथों में मेंहदी, पैरों में महावर रचा सकूं···शहनाई बजवा सकूं, फिर तुझे राजरानी-सी विदा कर सकूं!···जरा मेरी इन बिवाइयों में मोम तो भर दे बेटी, देख, कैसी फट-सी गई हैं··· बड़ी दर्द करती हैं···' सौदामिनी ने अपने तलुए प्रिया के सामने

कर दिए···बिवाइयों से भरे, जिनमें पुरानी चप्पलों की बार-बार उखड़ती कीलों ने एक-दो जख्म भी कर दिए थे···और सौदामिनी प्रतिमास नई चप्पल खरीदना टालती जा रही थी···। उन बिवाइयों में मोम भरती प्रिया ने सोचा, इस बार तनखा मिलते ही वह मां के लिए एक नहीं, दो जोड़ी चप्पलें एक साथ ले आयेगी कि एक टूटे तो दूसरी तैयार रहे, वरना तीसरी चप्पल आते-आते तो कैलेण्डर ही बदल देती है मां ! गुलाब से दृष्टि हटा, प्रिया मां की बिवाइयों को एकटक देखने लगी थी···जानती थी, मां के इन पैरों ने कांटों से बिंधते, जिन्दगी के शूल-भरे रास्ते तय किये हैं··· गिरती-पड़ती चलती रही हैं, बाबा को सहारा देती, चित्रा और प्रिया की उंगली थामे, हांफती-टूटती चलती रही हैं। चित्रा दीदी तो मां का हाथ झटक कर चली गई, प्रिया कभी नहीं जाएगी···मां के हाथ झटक कर कभी नहीं, कदापि नहीं।

प्रिया ने देवदास को लिख दिया ···'माफ करना देवदास। मां अनुमति नहीं दे पा रही है या सहमत नहीं हो पा रही है, पता नहीं। किन्तु, वे साफ-साफ 'ना' कह रही हैं। अच्छा होगा, तुम मुझे भूल जाओ,···मैं भी भूलने की कोशिश करूंगी···तुम देवदास हो या नहीं, उसका निश्चय तुम करना···मैं 'पारो' नहीं बन सकूंगी, इतना फैसला मैं कर चुकी हूं—प्रिया।' पत्र लिफाफे में बन्द करते, लाख रोकने पर भी आंखों से दो-चार आंसू उस लिफाफे पर टपक पड़े, कहीं स्याही न फैल जाये, प्रिया ने ब्लाटिंग पेपर से उन आंसुओं को तुरन्त सुखा दिया। व्यंग्य से स्वयं से पूछा—अपने मन के आंसुओं के लिए कौन-सा ब्लाटिंग पेपर लाओगी ?—स्वयं पर व्यंग्य करती, सूक्ष्म स्तर पर उन्मादिनी हो उठी प्रिया को स्थिर स्वर में उत्तर देती, स्थूल स्तर पर पूरे होश-हवास में प्रिया की प्रतिछाया सामने खड़ी थी—'ब्लाटिंग पेपर की क्या जरूरत है जब आंसू ही नहीं आयेंगे !'

और सचमुच, स्थूल स्तर पर खड़ी प्रिया ने, सूक्ष्म स्तर पर लड़खड़ाती प्रिया को संभाल लिया था···यद्यपि इस प्रयास में वास्तविक प्रिया कहीं गिर कर, असह्य चोट खा गई थी। एक दिनचर्या को दृढ़ता से निभाती प्रिया, बस एक 'क्रम' को ही अपना 'जीवन' स्वीकार करवा लेना चाहती थी, अपने उस मन से, जो दोनों आलिंगनबद्ध प्रियाओं के बीच, धड़कनों और चोटों के बीच टकराता, पागल-सा होकर रह गया था !···मौन, चुप, अप्रकट में एक आत्मघात-सा करती प्रिया, प्रकट में सदा हंसती-मुसकराती रहने लगी थी, बाबा के

सामने, मां के सामने, दिन के शोर में पूरी दुनिया के सामने। केवल रात्रि के नीरव प्रहरों में वह 'आत्मघाती' प्रिया, सपने देखती, जाग-जाग पड़ती थी... उन सपनों में प्रिया की मृत्यु की छायाएं होतीं···प्रिया के सपनों की भी प्रेत-छायाएं !

पनी अबाध गति से चल रहा था यद्यपि प्रिया को वह ठहर गया-
ा । सर्विस करते उसे छः मास हो गए थे । उसे मां अब कम थकती
ा अधिक प्रसन्नचित्त प्रतीत होते, कदाचित् प्रिया भी मां और
अधिक प्रिय हो उठी थी । बस, इस बीच केवल इतना हुआ था—एक
किया, लगभग दो मास पूर्व, एक पोस्टकार्ड दे गया था । पोस्टकार्ड के
र एक भव्य मन्दिर का चित्र था, दूसरी ओर केवल ये पंक्तियां—

'अनजान सफर, अन्धी राहें, मंजिल का पता मालूम नहीं,
आंखों में चांद-सितारे हैं, दुनिया का पता मालूम नहीं ।'

लम्बस ने अमरीका का पता लगाया था न, मैं अपनी ही दुनिया का पता
गाने जा रहा हूं, पता नहीं—लौटूंगा या नहीं···? बाबा एवं मां से चरणस्पर्श
कहना और स्वयं से कहना—"तुम 'प्रिया' ही बनी रहो !' इसी कामना
सहित—देवदास ।'

पोस्टकार्ड सीधे प्रिया के हाथों में पड़ा था । प्रिया ने वह पढ़कर चुपचाप
की ओर बढ़ा दिया । सौदामिनी ने पढ़ा, कहा···'पागल'···।

प्रिया तैयार होकर कॉलिज जा रही थी । सौदामिनी ने देखा—लाल
बार्डर की सफेद साड़ी पहने घने केशों का सीधा-सादा किन्तु सलीके से जूड़ा
बनाये, पैरों में दो पट्टियों की सादी-सी चप्पल पहने, खादी का झोला लट-
काये, प्रिया सामने खड़ी थी । सौदामिनी ने पोस्टकार्ड पढ़कर कहा था—
'पागल' । उत्तर में प्रिया ने कांपते ओठों से, सहजता से कहा—

'इसके साथ तुम्हें हंसना भी चाहिए था मां;' प्रिया ने सचमुच हंसक
कहा—'पागल नहीं, पूरा पागल ! अच्छा चलती हूं, शाम को छः बजे के ब
लौटूंगी । वो मिसेज माथुर हैं न, मेरी कलीग, उनके साथ 'रजनीगंधा' दे
जा रही हूं । सुना है, बड़ी बढ़िया फिल्म है, तुम भी चलो न मां ।' न, न
आज मत चलो, आज बाबा ठीक नहीं हैं । और मुझे शाम को देर हो
है ।' प्रिया द्रुत गति से चली गई । सौदामिनी कहती रह गई—'सुन तो !
नहीं, प्रिया ने सुना या नहीं । दरवाजे तक दौड़कर आती सौदामिनी

प्रिया गली के मोड़ में मुड़ती ओझल हो गई थी। सौदामिनी दरवाजा पकड़े कुछ देर चुपचाप खड़ी रही···। ओझल प्रिया, उनकी आंखों में कांप रही थी। कानों में प्रिया का चांदी की घंटियों-सा मधुर हंसता स्वर गूंज रहा था—'पागल नहीं, पूरा पागल !' किन्तु वह स्वर निश्चय ही सहज नहीं था। सौदामिनी को हंसना चाहिए था, वे हंस नहीं सकी थीं। कदाचित् प्रिया को हंसना नहीं चाहिए था, और वह हंस पड़ी। सौदामिनी के लिए प्रिया की उस हंसी को झेलना कठिन हो गया, यदि प्रिया रो पड़ती···तो कदाचित् सहना आसान होता।

सौदामिनी उस दिन स्कूल नहीं जा सकीं। तीन बजे के पश्चात् प्रिया के कॉलेज फोन किया तो स्वयं मिसेज माथुर बोल रही थीं—'जी, प्रिया तो आज कॉलेज आई ही नहीं, न हमारा 'फिल्म' का कोई प्रोग्राम था। किसी और कलीग के घर चली गई होगी। मिस मिश्रा, शकुन्तला मिश्रा से उसकी बहुत पटती है। वहीं गई होगी। वैसे मा जी, आपकी प्रिया अपूर्व है। मुख पर मानवते रूप के अतिरिक्त भी नारीत्व के रूप से भरपूर ! और किंचित् भी दम्भ नहीं। मैं तो आपसे मिलने को उत्सुक हूं कि जिनकी बेटी ऐसी है, वे कैसी होंगी !'

'अच्छा, कभी आइयेगा, अवश्य।' कहती सौदामिनी ने फोन रख दिया था। फोन, गली के मोड़ पर एक 'मेडिकल शॉप' में था, करीब घर से एक फर्लांग पर। दुकान का मालिक भला आदमी था। कोई फोन आता तो सौदामिनी को घर से बुला भी देता था। सौदामिनी जाती-जाती कहती गई—'शायद आज कोई फोन आये। कृपा करके बुला अवश्य लीजिएगा। वैसे तो बकिंग है, लेकिन मैं घर पर हूं। दुकान से घर तक का फर्लांग भर का फासला नापना सौदामिनी के लिए कठिन हो गया। पैर मन-मन भर के हो उठे थे, उनसे अपना बोझ ही नहीं खींचा जा रहा था, इतनी बोझिल-सी हो उठी थी वे स्वयं के निकट।

कहीं प्रिया कोई पागलपन न कर बैठे···? पल-पल गिनती, सौदामिनी चार बजे शाम से दरवाजे पर कुर्सी डाले बैठी रहीं···प्रिया साढ़े छः बजे घर लौटी। वैसी ही हंसती—मुसकराती। रिक्शे से उतरती, रिक्शेवाले छोकरे का परिचय कराने लगी—'मा, ये बिरजू है, पछाह की तरफ का। एकदम बुद्ध, पूरा पागल। मैं किस जाऊं तो मुझे इसके रिक्शे में बैठना ही पड़ेगा, यह इसकी शर्त है। खामखा मेरे पैसे खर्च करवा देता है, जिस दिन सनक चढ़ती है, बस,

स्टाप पर खड़ा होता है और फिर तो मुझे विरजू बहादुर का हुक्म मानना पड़ता है, अर्थात् इनके रिक्शे में बैठना पड़ता है, और चार आने की जगह आठ आने खर्च करने पड़ते हैं।' प्रिया विरजू को एक का नोट पकड़ा रही थी। सौदामिनी ने देखा, विरजू कुछ कहना चाह रहा था। प्रिया ने विरजू को जैसे कुछ कहने से वरजते कहा—'चल, अब भाग यहां से, और पूरे तीन दिन दिखाई मत देना, नहीं तो फिर तेरी मेरी कुट्टी पक्की…।'

विरजू, रिक्शा खींचता-सा चुपचाप चला गया। सौदामिनी ने देखा—प्रिया बिलकुल स्थिर थी, शान्त, सहज…। बस, उसकी विशाल आंखों में एक सूनापन-सा फैल गया था। कदाचित् आंखों की विशालता के कारण ही वह सूनापन भी विशाल लग रहा था। सौदामिनी मन ही मन कह उठी थीं—'काश ! प्रिया की आखें इतनी बड़ी न होतीं, काश, मेरी बेटी, मेरी यह प्रिया इतनी अपूर्व रूपवती न होती…। मुझ जैसी होती या चित्रा जैसी, बस था। किन्तु मिसेज माथुर आज ही तो कह रही थीं—आप की बेटी मुख पर झलकते रूप के अतिरिक्त भी नारीत्व के रूप से भरपूर है…! वह भरपूर रूपवती प्रिया—सौदामिनी की देह का ही नहीं, आत्मा का भी एक अंश, पंच-तत्वों से निर्मित एक नारी-आकार, सौदामिनी के सम्मुख, पुराने जीर्ण-शीर्ण दरवाजे की चौखट पर, सस्ते फ्रेम में जड़ी एक बहुमूल्य चित्र-सी, खड़ी थी—'क्या बात है मां ? बाबा तो ठीक हैं ? चलो न, अन्दर।'

'तू ठीक है ?' पूछती सौदामिनी कांपने लगी थीं। 'क्यों, मुझे क्या हुआ… मैं तो ठीक हूं, एकदम ! और मां, पिक्चर भी एकदम फर्स्टक्लास थी · और वह गीत तो…चलो, तुम्हें सुनाऊं, पहले अन्दर तो चलो !'

'कई बार ये भी देखा है
ये जो मन की सीमा-रेखा है
मन तोड़ने लगता है…
अनजानी राह के पीछे
अनजानी चाह के पीछे
मन दौड़ने लगता है…

वेसुध-सी प्रिया बाबा और मां के सामने बैठी गा रही थी…। दो-तीन बार इन्हीं पंक्तियों को दुहराती रही, फिर बोली—मां, ये फिल्मी गीत जैसा नहीं लगता, कविता-जैसी लगती है न, ये पंक्तियां…! मां, आज खाना नहीं खा

सकूंगी। मिसेज माथुर ने कॉफी पिला दी, एक नहीं, दो प्लेट सैंडविचेज खिला दिये, एक समोसा भी। पेट बिलकुल 'फुल' है, मॉने जा रही हूं। कल से एक ट्यूशन पर भी जाना है—आठ से नौ, फिर वहीं से कॉलेज चली जाया करूंगी। पूरे पचास रुपये हर महीने और मिलेंगे मां, पूरे पचास!' प्रिया ने खिलखिलाकर पांचों उंगलियां फैला दीं।

'तभी मेरी नातिन इतनी मगन है आज! पूरे पचास और का जो इन्तजाम कर आई है।' बाबा भी खिलखिलाकर हंसे, 'अरे, मेरी कमाऊ बेटी, कमा, कमा···और भरकर कमा! अभी इस बुड्ढे को बहुत जीना है, और सबसे अधिक पैसा भी खर्चने के लिए इस बुड्ढे को ही चाहिए···'

'न बाबा, अब तो पैसा अपनी शादी के लिए जोड़ूंगी, अपने दहेज के लिए कि मां को एक अच्छा-सा जमाई ला दूं।' प्रिया इतनी मुखर हो उठी थी कि सौदामिनी अवाक् रह गई थी···। प्रिया ने आठ बजे ही अपनी कोठरी का दरवाजा बन्द कर लिया था। सारी रात सौदामिनी के कानों में चांदी की घंटियों-सा प्रिया का मधुर स्वर खनकता रहा ···'पागल नहीं, पूरा पागल!' सौदामिनी को बार-बार लगता रहा, जैसे उन्होंने अपनी बेटी की हंसिनी-जैसी ग्रीवा, कोमल उज्ज्वल ग्रीवा मरोड़ कर रख दी है···। पागल प्रिया नहीं, सौदामिनी हो उठी थी—कवियों जैसी भावुकता भरी एक जोड़ी निर्दोष आंखें सारी रात उनकी आंखों में उभरती रहीं—देवदास की। आर्थिक अकिंचनता के अतिरिक्त, सब कुछ तो था देवदास के पास, प्रिया के लिए···। किन्तु आर्थिक अकिंचनता की तुलना में, और 'सब कुछ' व्यर्थ होकर रह जाता है··· सौदामिनी जीवन के इस जड़ सच को समझ चुकी थी। किन्तु··· किन्तु··· शर-विद्ध क्रौंच-युगल से प्रिया और देवदास भी तो एक सच थे—एक स्पन्दित, आहत सच!

उस संकरी गली की चौकानी, जब एक जहाज-सी कार सौदामिनी के द्वार पर आकर रुकी तो मुहल्ले भर में हलचल मच गई—इतनी बड़ी कार और इस मुहल्ले में···। और कार में बैठे, शहर के जाने-माने नेता और अब मन्त्री श्री यशवन्तजी इस घर के सामने! कौन नहीं जानता इस शहर में यशवन्तजी को? आये दिन उनके वक्तव्य और चित्र समाचारपत्रों में छपते ही रहते हैं।

किन्तु वर्दीधारी शोफर के उतर कर, अदब से यशवन्तजी के लिए कार का दरवाजा खोलते, फिर यशवन्तजी के एक कड़ी दृष्टि से सबको देखते ही सारी हलचल शान्त हो गई, लोग सनाका-सा खाकर रह गये।

'चलो भागो यहां से।' शोफर नासमझ बच्चों के झुंड को डांट रहा था और समझदारों का झुंड तो अपने आप स्तब्ध-सा रह गया था...

यशवन्तजी, चांदी की मूंठवाली छड़ी टेकते कार से उतरे, दरवाज़े पर सौदामिनी खड़ी थीं—'आइये इधर...' वे यशवन्तजी को बाबा की कोठरी में ले गईं। उन्हें कुर्सी पर बैठने को इंगित करती, प्रिया को आवाज़ दी—'प्रिया बेटी, यहां आओ।'

प्रिया नहाकर आई थी, वैसे ही खुले गीले केशों से पानी टपकाती, आ खड़ी हुई...सद्यःस्नात मुख, ओस से नहाये फूल-जैसा ताज़ा एवं मोहक था...। आंखों से रात का लगा काजल घुल गया तो क्या, पलकें वैसी ही कजरारी थीं...! कपोल, किसी शिशु के कपोलों-जैसे स्निग्ध, कोमल थे...वर्ण जैसे चांदनी में गुलाबी आभा घोल दी गई हो...!

'प्रिया, ये तेरे पिताजी हैं, इन्हें प्रणाम कर।' सौदामिनी स्वयं भी सिर आंचल से ढंक यशवन्त जी के चरणों में झुक गईं—'और यह आपकी छोटी बेटी 'प्रिया' है...बड़ी चित्रा के विषय में आप सुन ही चुके हैं।'

सौदामिनी को अनदेखा करते, यशवन्तजी प्रिया को अनदेखा नहीं कर सके ...यह लावण्यमयी प्रतिमा उनकी बेटी है...। यह अपूर्व रूपमयी उनका अंश है...प्रिया के सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखकर, यशवन्त जी पसीना पोंछने लगे थे। लगभग पन्द्रह वर्ष तो हुए होंगे, जब वे अन्तिम बार इस घर में, इन कोठरियों में आये थे...तब की 'प्रिया' उन्हें याद भी नहीं, किन्तु आज की यह प्रिया एक बार देखी जाकर भुलाई नहीं जा सकती। उनके वक्ष में 'ममत्व' का आलोड़न-सा उठ आया था—'अरे! यह तो खूब बड़ी हो गई है, तब सौदामिनी की फिक्र स्वाभाविक है। प्रिया का विवाह अब हो ही जाना चाहिए। ठीक है, मैं उचित घर-वर देखूंगा...और प्रिया का विवाह अब मेरी मर्जी से होगा।' यशवन्त जी का पल भर के लिए कोमल होता स्वर, फिर कठोर हो उठा जैसे वे पत्थर पर लकीर खींच रहे हों।

यह सब कुछ इतना अप्रत्याशित था कि प्रिया स्तब्ध रह गई। बाबा निश्चल पड़े थे। हां, सौदामिनी यशवन्तजी कठोर दृष्टि के प्रत्युत्तर में झुकीं नहीं, तन-सी गई थीं।

'देखिये, मैंने आपसे प्रिया के विवाह के लिए मदद मांगी है तो केवल इसलिए कि आप ऊंची 'पोजीशन' में हैं। आपके प्रभाव से इस स्वर्ण-प्रतिमा को कोई सुयोग्य घर-वर मिल जाए तो प्रिया सुखी हो सकेगी। देख रहे हैं न,

आपकी यह बेटी कैसी राजकुमारी-सी है। इसके लिए राजकुमार ढूंढना मेरे वस में नहीं, इसीलिए आपकी सहायता चाही है, वरना चित्रा के सम्बन्ध में तो मैंने आपसे कुछ कहा ही नहीं।' सौदामिनी तने हुए स्वर में कह रही थी। प्रिया साफ-साफ देख रही थी—अपराजेय उसके पिता नहीं, कदाचित् उसकी मां है···।

'रस्सी जल गई मगर बल नहीं गए। जिन्दगी भर ठोकरें खाकर भी तुम बदली नहीं सौदामिनी···। आज भी मैं तुम्हें, तुम्हारी बेटी और इस बुड्ढे के साथ स्वीकार कर सकता हूं, चलो, आराम से रहो। क्या जरूरत है टके की टीचरी करने की और इस फूल-सी लड़की से भी नौकरी करवाने की? बोलो, चलोगी, तो चलो इसी समय, बाहर कार खड़ी है।'

यशवन्त जी वैसे ही पत्थर पर लकीरें खींचे जा रहे थे, अनुमति नहीं मांग रहे थे, आज्ञा दे रहे थे।

'तुम भी तो नहीं बदले···चाहे समय जितना बदल गया हो। आज भी तुम्हारी दृष्टि में वही तिरस्कार है, मेरे प्रति, इस अभागे पिता के प्रति। जानते तो हो, याद भी होगा कि ऐसे स्वीकार की शर्तें पहले भी तुम्हारी थीं, और मैंने उन शर्तों को स्वीकार नहीं किया था मैं तुम्हारी संगिनी बनकर रह सकती थी, रखैल बनकर नहीं···और तुमने मेरे साथ भारी धोखा किया था, अक्षम्य अन्याय।तुमने मुझे बरबाद करके छोड़ दिया था···' सौदामिनी थरथर कांपने लगी थी। प्रिया ने मां को थाम लिया था, लग रहा था, वे गिर पड़ेंगी, अचेत हो जायेंगी··

'लो, शुरू हो गया त्रिया-चरित्र। ऐसे नाटक मैं बहुत देख चुका ··वह तो बेटी की जिन्दगी का सवाल न होता, तो तुम्हारे नाटक देखने आता भी नहीं।' यशवन्त जी उठ खड़े हुए थे—'खैर, चलता हूं, प्रिया के सम्बन्ध में शीघ्र सूचना दूंगा।···'छड़ी की ठक्-टक् को कीलों-सा सौदामिनी के हृदय में ठोंकते, यशवन्त जी चले गए। बाबा वैसे ही निश्चल पड़े रह गए थे, मां कटे वृक्ष-सी प्रिया की बाहों में ढह गई थीं · शायद सचमुच अचेत हो गई थीं। और प्रिया · यह सब देखती प्रिया की आंखों में जिन्दगी के जाने कितने विरूप रूप स्पष्ट हो उठे थे।

'मां को संभाल प्रिया। यह होना ही था। मैं जानता था, सौदामिनी सह नहीं सकेगी।' बाबा जड़वत् कह रहे थे।

प्रिया दौड़ी। ग्लूकोज का पानी बनाकर एक गिलास मां को पिलाया।

रूमाल तर कर माथे पर रखा। सौदामिनी तड़प रही थीं। तेज चलती सांसें···जैसे वक्ष पसलियों को तोड़कर कट पड़ना चाह रहा हो···ऐसे ही तो तड़पती है वह मछली, जिसे पानी से निकालकर रेत पर फेंक दिया जाये · एक दिन बिरजू ने प्रिया से, तालाब के किनारे बैठी प्रिया से कहा था—'दिदिया हो! एक खेल देखोगी?' और उसने झपट्टा मार कर एक मछली पकड़ ली थी, उसे पानी से निकालकर किनारे की रेत पर डाल दिया था···मछली · प्रिया की मीनाक्षी आंखों-जैसी ही वह मछली, जो तालाब के पानी में डूबी नाच सी रही थी—जीवन से स्पन्दित तैर रही थी···रेत पर पड़ी छटपटाने लगी थी, रेत में डूब कर मरने लगी थी·····बिरजू एक निष्ठुर हंसी हंस रहा था—'देखा दिदिया, ई मछरिया को। सारा जहान पानी में डूब कर मरत है, ई निगोड़ी पानी में जीवत है, रेत पर धरो तो मरै लागत है···'

प्रिया चीखी थी—'बिरजू, फेंक इसे पानी में। शैतान कहीं का! फिर कभी ऐसा खिलवाड़ किया तो पीटूंगी। तेरा खेल उस मछली की जान ले सकता है - फेंक···फेंक···उसे तालाब में।'

बिरजू ने तुरन्त मछली को उछालकर तालाब में फेंक दिया था, हाथ जोड़ दिए थे—हमका माफी दे दो दीदी रानी! बड़ी गलती होय गई। लो, आज से बिरजू मछरिया से खेलैगा तो क्या, मछरिया खावेगा भी नहीं···'

अपढ़, गंवार, मूर्ख बिरजू की वह मछली वाली सौगन्द प्रिया को याद आई जा रही थी—रेत पर तड़पती मछली-सी मां को देखकर। क्या उसके पिता यशवन्त जी नामधारी, सभ्य, सुसंस्कृत पुरुष संसार की दृष्टि में एक अत्यन्त ऊंचे प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उसकी मां से मछली जैसा ही खिलवाड़ नहीं किया था···? और फिर रेत पर तड़पती मछली को सारे जीवन रेत पर ही तड़पने के लिए नहीं छोड़ दिया था···? मां, मीनाक्षी अर्थात् मछली-जैसी आंखों वाली न भी रही, किन्तु पानी की, प्यार की तड़प तो मां में भी एक मछली जैसी ही रही होगी···! प्रिया को याद है, अबोध प्रिया को वक्ष से सटाकर रात-रात भर सिसकने वाली मां धीरे-धीरे पत्थर की होकर रह गई थीं···। शायद आंखों में आंसू शेष ही नहीं रह गए थे। यन्त्रचालित-सी, मां जीवन के स्थूल कर्मों को निभातीं, यन्त्रवत् होकर रह गई थीं—एक ऐसा यन्त्र जो केवल कार्यक्रम होता है···किन्तु जिसकी गति में स्पन्दन नहीं होते। मां प्रायः, अबोध प्रिया को सटाये, दीर्घ निःश्वासें लेतीं, रात में करवटें बदलतीं, होंठों ही होंठों में दुहराती थीं—'कर्मण्येवाधिकारस्ते···' वे अस्पष्ट शब्द प्रिया

के कानों में पड़ भी जाते तो वह उन शब्दों का अर्थ मां से नहीं जोड़ पाती थी। रात-दिन साथ रहती मां प्रिया को पहेली-सी लगती थी। आज प्रिया की बांहों मे अचेत होकर गिर गई मा की पहली भी स्पष्ट हो गई थी…।

प्रिया को याद है, एक दिन उसने मा से पूछा था…'मां, मेरे पिताजी कहां है ? सब बच्चों के पिताजी हैं, मुन्नी के, गुड्डी के, दीपू के, राजू के… कभी-कभी वे मुझे चिढाते हैं, प्रिया बिना बाप की है…वो नो बच्चों वाली शुक्ला आटी हैं न, वो तो एक दिन मुझे डांट रही थी—ए री प्रिया, मेरे घर न आया कर, बाप का पता नहीं, पता नहीं, किस पाप की औलाद है।'

…और यह सुनती सौदामिनी तड़प कर उठी थी, प्रिया को खींचती सीधे शुक्ला जी के कमरे में पहुंची थी और पूरे जोर से चीख पड़ी थी—'सुनिये, आप सब कान खोलकर, प्रिया बिना बाप की नहीं है, न किसी पाप का नतीजा है…किन्तु प्रिया के पिता इतने प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं कि समाज की नजरों मे उन्हे बेइज्जत नही करना चाहती। वे बहुत समर्थ भी हैं। यदि क्रोधित हो उठे तो आप सब को भी नानी याद करा देंगे। बोलिये, अब बताऊं उनका नाम ?'

शुक्ला जी हाथ जोड़ने लगे थे, 'माफ कीजियेगा सौदामिनी जी। क्या हम आपको जानते नहीं कि आप कैसी पाक-दामन हैं। मेरे बच्चो की मा और ये सब मुहल्लेवालियाँ बेकार की बकवास किया करती है। और काम ही क्या है…इन्हे…औरतजात…वैसे भी कान की कच्ची, अकल की ओछी होती है, इनके पेट में तो कोई बात पच सकती नही…हाजमा बिगड जाता है।'

सौदामिनी जैसी तेजी से गई थी, वैसी ही प्रिया को खींचती लौटी थी… कोठरी की सांकल चढ़ाकर प्रिया को वक्ष में भींचकर फूट-फूट कर रोने लगी थी, 'तेरे पिता हैं प्रिया। तू बहुत बड़े बाप की बेटी है ! …इतने बड़े बाप की कि तेरी मां उनके मुकाबले में छोटी होकर रह गई …। अब कोई तेरे पिता के बारे मे पूछे तो उसे सीधे मेरे पास ले आना।' फिर मा को दौरा-सा पड गया था।

बाबा दीर्घ निःश्वास लेते केवल इतना बोले थे, 'जाने किस घडी मे मैंने इसका नाम सौदामिनी रखा था…इसने अपना नाम पूरा सार्थक कर दिया।' यह जीवन-भर बिजली-सी ही तड़पती-कौंधती रही है, स्वयं को ही जलाकर रख दिया…हे प्रभु…तू ही अन्तर्यामी है…रक्षा कर !'

हाँ, चित्रा को जैसे मां की यातना से कोई मतलब नहीं था। वह कमर पर

हाथ रखे, आंखों में भरपूर काजल लगाये, वेणी सामने झुलाती माँ से कह उठती, 'अगर हम बड़े बाप की बेटी हैं, तो हमें उनसे मिला दो न ? अपने साथ हमें क्यों मारती हो ?'

चित्रा को कोई प्रत्युत्तर न देतीं, सौदामिनी प्रायः उसे थप्पड़ जड़ देतीं। फिर चित्रा भी बिना आंसू बहाये 'उंह' कहती पड़ोस में ताश खेलने दौड़ जाती···। धीरे-धीरे चित्रा काजल की धार तीखी करना सीखती गई, वेणी चुटीला लगाकर खूब लम्बी बना लेना भी···पैसे चुराकर चाट खाना, सिनेमा देखना भी। चित्रा का यौवन मधु-सा नहीं, मद-सा जागा था।

'अब कैसी तबियत है मा···?' प्रिया पूछ रही थी। सौदामिनी की आंखों मे एक भी आंसू नहीं था, प्रिया के कपोलों पर अविरल अश्रुधार बह रही थी।

'रो मत प्रिया, मेरी बेटी, मेरी प्राण!' सौदामिनी ने खींच कर प्रिया को वक्ष मे भींच लिया। मां और बेटी के वक्ष एक साथ सटे धड़कते रहे··· देर तक।

सहसा सौदामिनी उठी, 'प्रिया! तूने बाबा की कहानी तो सुन ली। आज मा की भी सुन ले।'

प्रिया ने मा की हथेलियां, अपने हाथों मे भर लीं— 'न मा, आज नहीं, आज तुम्हारा जी ठीक नहीं है ··फिर कभी, अब आराम करो।'

सौदामिनी हसी, एक तिक्त चोट खाई हंसी—'सारे जीवन आराम ही तो करती रही हू। आज तूने अपने पिता को पूरे होश मे अपनी आंखों से देखा है···। कोई कमी नजर आई उनमें···? सुना है, आज भी कुछ भू-भाग ऐसे हैं, जहा स्त्रियों का शासन चलता है। सुनकर हंसी आती है! विश्वास ही नहीं होता ··खैर, कहीं ऐसा होता भी हो, अपने देश में, अपने भारतीय समाज में, अपने परिवारों मे, नारी को महाकवि प्रसाद से लेकर तेरे पिता स्वनामधन्य श्री यशवन्त जी तक यही सिखाते रहे हैं—

अबला-जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी,
आंचल मे है दूध और आंखों मे पानी।

किन्तु कवि-दृष्टि से चाहे नारी के आसुओं को मोतियों से तौला जाये, यथार्थ के धरातल पर वे आंसू सिर्फ खारा पानी होते हैं। अभी सुना नहीं था, तेरे अति सभ्य, सुसंस्कृत पिता तेरी मा से कह रहे थे—'शुरू हो गया न त्रिया-चरित्र।'—और इन्हीं तेरे पिता ने एक दिन प्यार की कसमें खाई थीं, सदा साथ निभाने का वादा किया था···सोलह वर्ष की एक तरुणी को बत्तीस वर्ष के, ठीक दुगनी उम्र के, उस पुरुष से सबसे अधिक उस 'सुरक्षा' की आश्वस्ति मिली थी जो उसका अपाहिज पिता उसे नहीं दे सका था। सौदामिनी के लिए 'प्यार' एक अजानी भावना थी···उस समय तक तो वह केवल इतना समझ

र कह दे, 'मां, तुम निर्दोष हो !' बस, फिर मुझे और कुछ नहीं
…'कुछ नहीं…सारे जीवन में जिस ताप से दग्ध होती रही हूं, उसे
एक शीतल स्पर्श दे दे प्रिया, एक बेटी की तरह नहीं, एक 'मां' के
! कोई 'मां' तो मुझे कभी मिली ही नहीं।'

सौदामिनी रुकीं, एक दीर्घ निःश्वास लेतीं, कठोरता से अपनी नम हो आई
ं पोंछ लीं—

'यशवन्तजी उस स्कूल के ट्रस्टी थे, जहां तेरी मां पढ़ती थी। सौदामिनी
एक डिबेट में प्रथम पुरस्कार पाया था—'नारी-मुक्ति : एक प्रश्न'। पुरस्कार
ा रजत-पदक सौदामिनी को देते यशवन्तजी ने उसे जैसे अपनी दृष्टि से भी
ुरस्कृत कर दिया था…। कहा था—वे मेरे पिता से मिलना चाहेंगे।

'जीवन में पहली बार किसी सार्थकता की तुष्टि लेकर, घर लौटती सौदा-
मिनी के मन में यशवन्तजी की वह पुरस्कार देती छवि समा गई थी…! कैसा
तेज है उनके मुख पर…आंखों में कैसी आभा ! और कैसी पुष्ट भुजाएं…!
सबसे अधिक सौदामिनी को यशवन्तजी का वह सबल-पुष्ट शरीर ही भाया
था—पौरुष के प्रतीक-सा ! वह ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही थी कि यशवन्त
जी क्यों उसके मन में समा गए हैं ? उम्र में दुगने, उच्च वर्ग के एक अति
प्रतिष्ठित व्यक्ति, आभिजात्य से परिपूर्ण यशवन्तजी विवाहित हैं—सौदामिनी
की हम-उम्र उनकी कन्या कान्वेंट में पढ़ती है, दो पुत्र पब्लिक स्कूल में, पत्नी
जमींदार घराने की हैं…सौदामिनी, यशवन्तजी के सम्बन्ध में उनका सारा
परिवेश जानती थी…किन्तु, फिर भी…'

'उस सांझ सौदामिनी बाजार से सब्जी खरीदकर लौट रही थी कि
यशवन्तजी की कार उसकी गली के नुक्कड़ पर आकर रुकी। 'तुम्हारा घ
इसी गली में है ?' यशवन्तजी रस-भीगी आंखों से प्रश्न कर रहे थे।

'जी हां…' 'सौदामिनी अचकचा गई थी।

'तुम्हारे पिताजी से मिलना चाहता हूं, जिन्होंने तुम-जैसे कन्या-
को जन्म दिया !' यशवन्तजी के होंठों से भी रस बरस रहा था।

'आइये, आइये…'सौदामिनी होश खो बैठी थी। उस संकरी ग
यशवन्तजी के पार्श्व में चलती, मामूली साड़ी में लिपटी, रूखे केशों की
लटें संवारती, सौदामिनी, अचानक राजकुमारी-सा महसूस करने ल
सोलह-वर्षीया सौदामिनी की शिराओं में पहली बार रक्त इतना उष्ण
कि उस उष्णता ने उसके कपोलों को रंग दिया…! उसकी आंखों

रंग छनक उठा था···और जब यशवन्तजी उसके पिता से बात कर रहे थे तो मुग्ध सौदामिनी दर्पण देखती गुनगुना रही थी—'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई!'

'जाते-जाते यशवन्तजी सौदामिनी के कानों में कहते गए—'कल इसी समय फिर आऊंगा तुम्हें लेने, तैयार रहना···'

'और सौदामिनी होश खो बैठी···वह अपना तन-मन सर्वस्व लिये, दूसरे दिन, द्वार पर खड़ी थी···उस समर्पण को एक भोला विश्वास था कि यशवन्त जैसा इनिष्ठ पुरुष उसे सुरक्षा देगा, छाह देगा···अपाहिज पिता की कांपती 'अब गिरी, अब गिरी' जैसी छत के नीचे पली, प्रतिपल एक आशंका से घिरी, सौदामिनी के लिए वह विश्वास ही 'प्यार' था।

'यशवन्तजी ने सौदामिनी से आर्यसमाजी रीति से विवाह किया···अर्थात् एक अनाथ कन्या का उद्धार किया···वे समाज की, संसार की दृष्टि में बहुत ऊंचे उठ गए···! लोगों ने कहा, यशवन्तजी ने लोकापवाद की परवाह न कर एक साधारण कन्या का उद्धार किया है, पुरुष हो तो ऐसा हो कि यदि प्रेम करे, तो विवाह करे···। फिर क्या कमी थी यशवन्तजी को लड़कियों की···जो उन्होंने समाज के सामने एक ज़िम्मेदारी ली, विरोध सहे, लोकापवाद का सामना किया···! तब दूसरा विवाह कानून की दृष्टि से वर्जित नहीं था और यशवन्तजी की पत्नी जमींदार बाप की बेटी, को स्वयं का ही होश नहीं था···! सौदामिनी जब उनके चरणस्पर्श करने झुकी, तो वे एक तिक्त विषैली हंसी हंसी थीं— 'ओ रे, मेरी सबसे छोटी सौत, तो मेरे नाग ने तुझे भी डंस लिया···! चल, अब तू भी मरेगी, धीरे-धीरे तुझे शरबत में घोल-घोल कर जहर पिलाया जाएगा, ··तू नीली पड़ती जाएगी···मेरा और अब तेरा भी ये खसम फिर तुझे भी जीते-जी मारकर किसी और को डंसने बढ़ जाएगा··· अरी, पूरा काला नाग है ये! इसके डसे को कोई मन्त्र भी नहीं बचा सकता।'

'इनकी बातों की परवाह मत करना सौदामिनी, ये बिलकुल पागल हो चुकी हैं···।' यशवन्तजी सौदामिनी को लेकर नैनीताल चले गए थे, तीन मास के लिए मधुयामिनी मनाने। जाने के पहले सौदामिनी पिता के चरणों में झुकी थी—'तुम भी चलो न बाबा! कैसे रहोगे अकेले···?' सौदामिनी पिता से लिपट गई थी।

अपाहिज पिता का कांपता दाया हाथ बेटी के मस्तक पर आशीर्वाद बरस रहा था, 'नहीं बेटी, जमाई के दरवाजे पर पड़ा श्वसुर, घर का कुत्ता होता है

मैं यहीं रहूंगा, एक बाई का इन्तजाम तूने कर ही दिया है…और अब तो तेरे अभागे पिता की सारी साध पूरी हो चुकी…तू इतने बड़े आदमी की पत्नी बन चुकी है…! भगवान करे, जल्दी से तू मुझे एक नन्हा-सा कृष्ण दे या राधा देगी…?' लाज से गुलाल होती सौदामिनी ने हथेलियों से मुख ढंक लिया था—पिता और पुत्री दोनों की आंखों में तृप्ति के आंसू थे।'

सौदामिनी उठीं, टीन का एक पुराना सन्दूक खोलकर उसमें से सामान निकाल कर विक्षिप्त-सी फेंकने लगीं…दो सूखी पुष्पमालाएं, कुछ सूखे फूल, एक जर्जर लाल चुनरी, पत्रों का एक बंडल, दो अंगूठियां और एक धुंधला पड़ गया चित्र…'देख बेटी, पहचानती है इन्हें ?'

प्रिया ने देखा—अपने वसन्त में सौदामिनी भी कम पुष्पित-पल्लवित नहीं थीं…आंखें उतनी बड़ी न हों, किन्तु उनमें सम्मोहन भरपूर था,…मुख पर एक सलज्ज गरिमा थी…! यशवन्तजी उस युवती को बाईं बांह से घेरे थे…उनके मुख पर सचमुच तेज-सा था, पुष्ट वक्ष, उन्नत मस्तक…! मां ने शायद उसी पुष्ट वक्ष पर सिर टेककर होश खो दिए होंगे…। प्रिया की आंखों में देवदास साकार हो उठा—'बिलकुल ठीक कहती हैं मां, पुरुष की भावुकता में डूबी आंखें व्यर्थ हैं…नारी को पुष्ट वक्ष चाहिए सिर टेकने के लिए, सबल भुजाएं चाहिए उनमें समाने के लिए।'

किन्तु…किन्तु…फिर आज उसके सामने बैठी मां इतनी लुटी हुई क्यों हैं…? पराजित, आहत गरिमा के बेदरंगों को ढोती आंखें, पतझर-सा धूल-धूसरित मुख…। मां को तो सबल भुजाएं मिली थीं, पुष्ट वक्ष, आभिजात्य में डूबा स्वीकार…! मां को तो यशवन्तजी ने धूल से उठाकर राजसिंहासन पर बैठा दिया था…! 'राजसिंहासन—!' प्रिया ने देखा, आज कटी-फटी चटाई पर विक्षिप्त-सी लोटती सौदामिनी उस राजसिंहासन से गिरी या गिराई गई होगी—तब कितनी चोट लगी होगी उसकी मां को—? राजसिंहासन का विद्रूप यह फटी-जर्जर चटाई—! प्रिया दो जोड़ चप्पलों के साथ एक बिलकुल नई चटाई भी लाएगी, मां के लिए…। नंगे फर्श पर आंचल फैलाकर लुढ़क जाती है सौदामिनी…मां को वह नर्म गद्दा न सही, नई चटाई तो दे सकती है।

नैनीताल में तीन मास बीतते न बीतते सौदामिनी ने सुना, यशवन्त जी उसे वैसे ही बांह से घेरे समझा रहे थे—देखो सौदामिनी, मैंने तुम-जैसी पढ़ी-लिखी समझदार लड़की से इसलिए विवाह किया है कि तुम जीवन के हर क्षेत्र में मेरी संगिनी हो सको…आज कुछ विशेष अतिथि आयेंगे, जो बहुत काम के

व्यक्ति हैं, उनके स्वागत-सत्कार का विशेष ध्यान रखना···नख से शिख तक भरपूर शृंगार करना···आज एक विशेष रात है!'

'पगली सौदामिनी ने खाने की मेज से लेकर स्वयं तक को भरपूर सजा कर मेहमानों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया···आयोजन सफल रहा, सौदामिनी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते और सब अतिथि तो विदा हो गए, एक मोती का कंठा पहने, किसी रियासत का राजा सा, नशे में डूबी आखें लिये बैठा रह गया था···और यशवन्त जी ने सहसा उठकर, सौदामिनी को उसी कक्ष में छोड़कर दरवाजा बाहर से बन्द कर दिया था सौदामिनी चीखती रही, दांतों से काटती, नाखूनों से उस नर-पिशाच को नोंचती, संघर्ष करती रही, अचेत हो गई···और जब उसकी चेतना लौटी तो वह अपने पति-पुरुष की साक्षी में ही एक और पुरुष पिशाच द्वारा रौंदी जा चुकी थी·····उसे अचेत-सी ही छोड़ते यशवन्त जी उसे नैनीताल की उस विशाल कोठी में अकेली छोड़ कर बाहर लौट गए थे—देश की राजनीति में होती उथल-पुथल में भाग लेने। सौदामिनी को दो महीने का गर्भ था···पुरुष के पुष्ट वक्ष, सबल भुजाओं का सम्मोहन टूट चुका था···अपने ही पति-पुरुष की साक्षी में किए गए उस बलात्कार की बात वह किससे कहती···कैसे कहती···? सौदामिनी··· विक्षिप्त होती सौदामिनी के कानों में निरन्तर बजता रहता—'ओ रे! मेरी सबसे छोटी सौत, तो मेरे नाग ने तुझे भी डस लिया' सौदामिनी सचमुच विषदग्ध-सी नीली पड़ने लगी थी। उस भव्य कोठी में, मखमली शय्या पर लोटती सौदामिनी पागल होने लगी थी। किन्तु भाग निकलने के रास्ते यशवन्त जी सावधानी से बन्द करवा गए थे। वह वहां, बिना बेड़ियों के बन्दिनी थी।

चित्रा का जन्म सारी सुख-सुविधाओं के बीच हुआ। लेडी डाक्टर से लेकर नर्स तक सेवा में प्रस्तुत थी···फलों और मेवों से भरी टोकरियां थीं····· किन्तु सौदामिनी किसी विष को पीती नीली नहीं, पीली पड़ गई थी···उसे सचमुच पीलिया हो गया था।

'दशा गम्भीर होने पर सौदामिनी शहर लाई गई। यशवन्त जी स्वयं ट्रेन में साथ थे। सारे रास्ते वे ब्रीफकेस में रखे कागजों को देखते रहे, या सिगार पीते रहे। सौदामिनी ज्वर में तड़पती रही। नन्हीं चित्रा आया की गोद में थी। यशवन्त जी ने सौदामिनी की 'सुनिये, एक मिनट के लिए सुनिए··' का भी कोई उत्तर नहीं दिया।

यशवन्तजी सौदामिनी को घर नहीं लाये, अस्पताल में भरती करवा दिया।

फिर पता नहीं कैसे, सौदामिनी के प्राण बचे, चेतना लौटी···। अस्पताल की सफेद दीवारों को निष्प्रभ आंखों से देखती, सौदामिनी की आंखों में भी कोई रंग शेष नहीं रह गया था···। हां बेटी, तेरी यह मां बीस बसन्तों को गिन पाने के पूर्व ही पतझर की हवाओं से घिर गई थी···पतझर की पीली पत्तियों-सी··· बवंडरों में उड़ रही थी···या धूल-धूसरित पड़ी यथार्थ के कदमों से रौंदी जा रही थी···उसने पिता के पास लौट जाना चाहा······ यशवन्त जी की आज्ञा नहीं मिली। सौदामिनी को अस्पताल से लाकर यशवन्त जी के भव्य भवन के एक कक्ष में फिर मखमली सेज पर पटक दिया गया था···चित्रा एक साल की हो गई थी—किन्तु, सौदामिनी···पथराई सौदामिनी के प्राणों में मातृत्व का कोई स्पन्दन नहीं था।

कभी सौदामिनी अपनी उन्हीं विक्षिप्त सौत के सामने पड़ जाती, तो एक विक्षिप्त हंसी से वह बरामदा गूंजने लगता···जहां जड़ाऊ कंगन पहने, ढेर-से सिन्दूर से मांग भरे, गिलौरियां चबाती, होंठों को रक्त-रंजित-सा लाल किए वे चीखतीं, 'क्यों री मेरी सबसे छोटी सौत··· मेरे नाग ने तुझे भी डस लिया न ! अरे! काले नाग के डसे का मन्त्र है—इस सफेद टोपी वाले नाग के डसे का जहर कोई नहीं उतार सकता···इसके डसे को तो जीते-जी मरना होगा···तिल-तिल, पल-पल मरना होगा···आ री आ, मेरे गले लग जा, तू मेरी बड़ी बिटिया-जैसी है—नहीं-नहीं, तू तो मेरी सौत है···मेरी सबसे छोटी सौत···भला क्या उमर होगी तेरी ? उसकी विक्षिप्त हंसी आर्द्र हो उठती···

'सौदामिनी ने लक्ष्य किया था, जिस दिन वह उन बड़ी के सामने पड़ जाती, उस दिन उन पर पागलपन का दौरा जरूर पड़ता···वे बाल नोंचतीं, खाने की थाली उठाकर फेंक देतीं—हंसतीं—रोतीं—अचेत हो जातीं—सौदामिनी ने उनके सामने पड़ना बन्द कर दिया था।

एक दिन सौदामिनी ने देखा, कोठी के गिर्द बाग में झाड़ू लगाती, सफाई करती, मेहतर की छोकरी, उन्हें देखकर मुसकरा रही है—जैसे चिढ़ा रही हो··· पास ही उसका सालभर का शिशु पड़ा था···'अरे, इस लछमी का ब्याह कब हुआ जो बच्चा भी हो गया ! सौदामिनी को आश्चर्य हुआ। बच्चे के मुंह में स्तन देते लछमी ने ऊपर बारजे में खड़ी सौदामिनी की ओर विष-बुझी मुसकान का तीर फेंका—व्यंग से मुसकराई।

सौदामिनी को बहुत बुरा लगा···यह दो टके की छोकरी उन्हें किस बात पर अंगूठा दिखा रही है ? 'वे क्रोध से पैर पटकती नीचे आई—क्यों री, तेरा

दिमाग तो ठिकाने है, ऐसी बदतमीजी क्यों कर रही है ?

और सचमुच अंगूठा दिखाती, जबान निकाल कर चिढ़ाती लछमी बोली—'तुम्हारी कोख ने जिसकी बिटिया जनी है, मेरी कोख ने उसी का बेटा जना है, तो मैं तुमसे जीती या नहीं'''? हां, यह भाग की बात है कि तुम सेज पर सोती हो, हम झुपड़िया में'''बाकी मालिक के लिए हममें-तुममें कोनो फरक नाही'''।' 'सौदामिनी ने चकराती आंखों से देखा, लछमी की गोद में पड़े उस शिशु का यशवन्त जी की आकृति से साम्य स्पष्ट था। 'इज्जत हमार एक जैसी न सही, बेइज्जती हम दुइनो की एक जस है! समझी छोटी रानी जी ?' लछमी ने बात पूरी कर दी थी।

फिर, उस रात, यशवन्त जी सौदामिनी के कक्ष में आये'''नशे में डूबी लाल आंखों से घूरते, सौदामिनी को बाहुपाश में कसना चाहा ''तो सौदामिनी विक्षिप्त-सी हो उठी। जिस पति पुरुष ने सौदामिनी की अछूती देह के पुष्प को, किसी और नर-पशु को रौंद देने दिया था, वह स्वयं क्या उस नर-पशु से कम था'''? ''नहीं'''' नहीं''' अब उसे पति-पुरुष का कोई अधिकार नहीं'''सौदामिनी सचमुच पागल हो उठी ''यशवन्त जी को वैसे ही काटती-नोंचती रही, जैसे किसी रात एक और नर-पशु को नोंचा था'''किन्तु शारीरिक बल के कारण भी नारी सदा पुरुष से हारी है। यशवन्त की राक्षसी शक्ति से, दुर्बल सौदामिनी अपनी रक्षा नहीं कर सकी। वह एक और बलात्कार था''। समाज और कानून की दृष्टि से पति-पुरुष का जायज अधिकार, किन्तु मनुष्यता की दृष्टि से एक अपरिभाषित बलात्कार'' और ''और -' सौदामिनी फर्श पर लुढ़क गई—प्रिया, तू अपने पिता द्वारा अपनी मां के उसी बलात्कार का परिणाम है ''पता नहीं, उस पैशाचिक कृत्य के बीच तूने ऐसा देवी-सा रूप कैसे पा लिया'' ?

'और बस, उसी सप्ताह, एक अंधेरी रात के स्याह अन्धकार में, साल भर की चित्रा को गोद में लिये और तुझे गर्भ में, तेरी मां उस भव्य भवन से भाग निकली'''उस शहर से भी' सौदामिनी अपने अपाहिज पिता के पास लौट आई थी''।' 'गिरती-पड़ती सौदामिनी जब पिता के सम्मुख आ खड़ी हुई तो वे गूंगे से हो गए' फटी-फटी आंखों से तेरी मां को देखते तेरे नाना, तेरी मां के आर्तनाद को सुनते, पहली और अन्तिम बार अचेत हो गए थे फिर उन्हीं अपाहिज पिता ने, अपनी बेटी के खण्ड-खण्ड अस्तित्व को जोड़ना शुरू किया ''अपने ममत्व से''। मुझे समझाया कि मुझे स्वयं के लिए नहीं, अपनी

सन्तान के लिए जीना है।' बाबा कहते कुछ नहीं, किन्तु उनका अनकहा ममत्व सौदामिनी के घाव भरने लगा था···।

'फिर तेरा जन्म हुआ प्रिया···तेरा अपूर्व रूप देखकर मैं अपनी चोटों का सारा दर्द भूल गई···। जीने के लिए कमर कस ली···समाज का सामना करने लिए भी···और साफ बता दूं, चित्रा ने गलत नहीं कहा था—'केशव जी को देखकर तुम्हारे चेहरे का रंग क्यों बदल जाता है ?'···जरूर बदल जाता है···।

सौदामिनी ने हथेलियों से मुंह ढंक लिया—'केशवजी, मेरे लिए अपनी पत्नी और बच्चों से विच्छेद के लिए तैयार थे···मेरे लुटे-पिटे नारीत्व को प्यार, सुरक्षा देने के लिए···मेरे प्रियात्व को स्वीकार देने के लिए···। किन्तु मैं औरत होकर, एक और औरत का घर-संसार कैसे उजाड़ती ! बस, यह मुझसे नहीं हो सका···और···मैं और केशवजी अपने-अपने घेरे में तिल-तिल जलते रह गए !···

'कम से कम तू इसे झूठ मत समझना प्रिया, कि तेरी मां ने वासना की आंधियों में अपने पैर उखड़ने नहीं दिये। किसी देह-सुख के सम्मुख कभी नहीं झुकी। हां, मन के मन्दिर में जरूर एक आरती का दिया-सा जलता रहा है··· केशवजी के प्रति··· इस दिये पर मेरा वश नहीं रहा···।'

सौदामिनी पथराई आंखों से प्रिया को अपलक देख रही थी। प्रिया के कपोलों पर अविरल अश्रु बह रहे थे, जिन्हें न मां पोंछ रही थी, न प्रिया स्वयं।

यशवन्तजी का शोफर एक मुहर-लगा लिफाफा दे गया—सौदामिनीजी के नाम। चलते समय शोफर ने सलाम ठोका था, जैसे जले पर नमक छिड़क रहा हो और एक टेढ़ी मुसकान दबाता-सा चला गया था।

सौदामिनी ने कोठरी की सांकल भीतर से चढ़ाकर लिफाफा खोला, लिखा था—'सौदामिनी, परसों शाम को कार भेजूंगा, शाम पांच बजे। प्रिया को भेज देना। तुम साथ मत आना। प्रिया के लिए रिश्ता लगभग तय कर लिया है। प्रसिद्ध बिजनेस-मैगनेट राम आहूजा का इकलौता बेटा अरुण। उनकी केवल एक शर्त है कि लड़की बहुत खूबसूरत होनी चाहिए। प्रिया उनकी शर्त पर उन्नीस नहीं, इक्कीस उतरेगी। शेष मैं देख लूंगा।—यशवन्त।'

फिर 'पुनश्च' के साथ इतना और लिखा था—

'बस, इतना याद रखना कि 'होटल कॉण्टिनेंटल' की ऊंची सोसाइटी की भीड़ में प्रिया का परिचय 'प्रिया यशवन्त' होगा। यह रिश्ता मेरे कारण ही हो रहा है, तुम्हारी-जैसी दो टके की मास्टरनी के कारण नहीं। तुम बीच में आने की कोशिश भी मत करना। प्रिया की सुरक्षा की जिम्मेदारी मेरी है। और… तुम चाहे जो भी रही हो, या तुम्हारे लिए मैं जो भी रहा हूं, प्रिया बेटी के लिए एक पिता का हृदय मेरे पास भी है। चित्रा को तो तुमने खो दिया… मैं प्रिया को नहीं खोने दूंगा।—यशवन्त।'

फिर एक 'पुनश्च' और था, जैसे कोई गिन-गिनकर कोड़े लगा रहा हो—

'वैसे, उस दिन तुम्हें देखा था… और मैंने ठीक ही कहा था—'रस्सी जल गई, मगर बल नहीं गए।' मान-अभिमान ठीक कहा था। मैंने तुम्हें रास्ते की धूल से उठाकर मखमल की सेज दी… लेकिन तुम्हारा अभिमान तो देखो… मखमल की सेज तुम्हें रास नहीं आई। क्या बन्दा तुम्हारा गुलाम था, जो तुम्हारे पैरों में झुका रहता…? मेरे घर के दरवाज़े आज भी तुम्हारे लिए खुले हैं, उस अपाहिज बुड्ढे को भी साथ ला सकती हो। उसका दूसरा हाथ

भी तोड़ देने का मेरा अरमान पूरा नहीं हुआ—जैसा बाप, वैसी बेटी ! खैर, जाओ, बख्शता हूं तुम्हें। बस, प्रिया के और मेरे बीच में आने की कोशिश मत करना, वरना···यशवन्त।'

सौदामिनी, पत्र पढ़ती, निश्चल बैठी रह गई। जाने कब तक बैठी रहीं। प्रिया दरवाजा खटखटा रही थी—'मां, क्या कर रही हो ? आज स्कूल नहीं जाओगी ? मुझे भी तो कॉलेज जाना है। तबियत ठीक नहीं तो चलो साथ, डॉक्टरनी को दिखाते चलेंगे।'

सौदामिनी ने दरवाजा खोला, एक रक्तहीन हंसी को रक्तदान-सा देती, बोलीं, 'कुछ नहीं री ! मैं तो बिलकुल ठीक हूं···और बहुत खुश भी ! तेरे पिता ने तेरा रिश्ता ढूंढ़ लिया है, परसों शाम को तुझे वहां जाना है···ऐसा कर, तू कॉलेज से तीन दिन की छुट्टी ले ले, मैं भी लिये लेती हूं। शादी-ब्याह का मामला है और तेरे लिए, तेरे उपयुक्त वर ढूंढ़ पाना मेरे बस की बात भी नहीं। वो तो तेरे पिताश्री तुझे देखते ही मुग्ध हो गए···। कैसे न होते···? ऐसा अपूर्व रूप···? उन्हीं का अंश है···गर्व से उनकी गर्दन तन गई है। लगता है, अन्तर्यामी ने मेरी सुन ली, मेरी राजकुमारी-सी बेटी को कोई राजकुमार ही ले जायेगा···। सुन नहीं रही है बेटी···शहनाइयां बजने लगी हैं ! और देख नहीं रही है···सफेद घोड़े पर सवार वह राजकुमार चल पड़ा है···!'

सौदामिनी के होंठ हंस रहे थे, आंखें झर रही थीं···बदन अकंपित था, स्वर प्रकंपित। प्रिया को निर्निमेष देखती, उनकी आंखों में जख्म ही जख्म थे। प्रिया ने मां को संभालकर लिटा दिया—'मां, मां, तुम जैसा कहोगी, मैं करूंगी···किंचित् भी विरोध नहीं करूंगी··· बस, तुम ठीक हो जाओ, मुझे और कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं···'प्रिया ने सौदामिनी के वक्ष पर सिर टेक दिया, गले में बांहें डाल दीं, सिसकने लगी। 'कहीं मां विक्षिप्त न हो उठे, कहीं मां को कुछ और न हो जाए···' प्रिया एक भय से कांपने लगी थी···'वह अपना सर्वस्व देकर भी मां को कोई तुष्टि, कोई सुख, कोई चैन दे सके···तो स्वयं के लिए कुछ नहीं चाहेगी···कुछ नहीं।' प्रिया किसी अन्तर्यामी से कह रही थी···।

'मेरी बेटी, मेरी प्रिया···। मेरे कलेजे का टुकड़ा···।' सौदामिनी प्रिया के केशों पर हाथ फेरतीं, दुहराती रहीं···प्रिया की सिसकियां और सौदामिनी के अस्फुट शब्द एकात्म हो उठे थे। किन्तु मां-बेटी के आलिंगन, सटे वक्षों के बीच जीवन-जगत् के अदृश्य कटु निर्मम यथार्थों की दुधारी तलवार, आरी-सी

चलती रही···। सौदामिनी के पास कदाचित् और रक्त शेष नहीं था···वे शव हो उठी थीं···हां, प्रिया की सिसकियों में नीरव चीत्कार था, किसी अदृश्य कसते शिकंजे से छूटने का आर्तनाद था···वैसे वे सिर्फ सिसकियां थीं···।

तीसरी शाम, ठीक पांच बजे, यशवन्तजी की जहाज-सी कार सौदामिनी के दरवाज़े पर आकर रुकी। कार में, सफेद झक साड़ी पहने, एक वृद्धा आया भी थी। यशवन्तजी ने ठीक लिखा था—'प्रिया की सुरक्षा की जिम्मेदारी मेरी है।'

लाल चौड़े बार्डर की सफेद हाफ-सिल्क की साड़ी पहने, धुले, रूखे केशों को वेणी में गूंथे, प्रिया को कार में बैठाती सौदामिनी—'एक मिनट ठहरो···' कहती भीतर दौड़ीं, एक सुर्ख लाल गुलाब, प्रिया की साड़ी के बार्डर के ही रंग का लाकर प्रिया के केशों में दाईं ओर टांक दिया - प्रिया के कपोल, दोनों ओर चूमे, आंखें भी,—'जाओ बेटी, अपना और स्थितियों का ध्यान रखना। बाबा के पैर तो छू आई हो न!' सौदामिनी उन क्षणों में एक साथ हंस-रो रही थीं, आंखें भी पोंछ रही थीं, गद्गद भी हो रही थीं।

उत्तर अन्दर से आया—'और सवेरे से करती क्या रही है, मेरी नातिन! अरे, हाथों से पैर छूते तो मैंने बहुत देखे—इसने तो मुझे आंखों से पैर छू-छूकर परेशान कर दिया···! जा री जा, मेरी राधा नातिन, कोई कन्हैया बंसी बजा रहा है तेरे लिए ··!' सुन नहीं रही है, तेरा कन्हैया कह रहा है—'बूझत स्याम, कौन तू गोरी ··?'

कार स्टार्ट करते शोफर व्यंग्य से हंसा—'माफ करना बेबी, ये बुड्ढा क्या पागल है?'

प्रिया चीखी, 'शट-अप! वो मेरे बाबा हैं, मेरे बहुत अच्छे बाबा! आइन्दा कभी ऐसी बदतमीजी की बात मत करना।'

शोफर ने 'सॉरी' कहते कार की स्पीड तेज कर दी। कार साठ की स्पीड से शहर के राजमार्गों पर दौड़ने लगी थी, जैसे प्रिया की नियति भी संकरी गली से निकलकर राजमार्ग पर दौड़ उठी हो···। प्रिया ने ध्यान से देखा—कार हलके नीले रंग की थी, बिलकुल स्काई-ब्लू···रेशमी, फूलदार नीले सिल्क के पर्दों से सजी, प्रिया की आंखों में वे रंग भर गए।···सीट इतनी नर्म, गुदगुदी और आरामदेह थी कि प्रिया उसमें धंस गई। प्रिया को बसों की भीड़,

क्यू, घून, और शोर याद आया, उसकी तुलना में कार का नीला सम्मोहन एक इन्द्रजाल-सा था···। प्रिया ने पलकें मूंद लीं···उन मुंदी पलकों में देवदास आ खड़ा हुआ था···। किन्तु कार के सम्मोहन के समक्ष देवदास की आंखों का सम्मोहन पराजित हो उठा था···प्रिया ने उन क्षणों स्वीकार लिया।

सहसा कार रुकी, शोफर ने दरवाजा खोला—सामने यशवन्तजी एक युवक के साथ खड़े थे—'हियर शी कम्स, मेरी बेटी मिस प्रिया यशवन्त ! और प्रिया, ये हैं अरुण आहूजा···श्रीराम आहूजा के एकलौते बेटे और अब मेरे होने वाले दामाद।'

प्रिया ने नमस्कार में हथेलियां जोड़ दीं। प्रश्न-भरी नजर से पिता को देखा, उनके होने वाले दामाद को भी, जैसे पूछ रही हो, 'अब क्या करना है मुझे ?'

अरुण आगे बढ़ा, 'आप इजाजत दें अंकल, तो जरा एक घंटे में इनका हुलिया बदलवा लाऊं। अदरवाइज़ शी वोन्ट फ़िट इन।'

'ओह श्योर···श्योर···!' कहते यशवन्तजी ने स्वयं दूसरी तरफ का कार का दरवाजा खोल दिया। अरुण प्रिया के पार्श्व में आ बैठा था, कार साठ की स्पीड से फिर दौड़ने लगी थी—'ब्यूटी पार्लर।' अरुण ने शोफर से कहा था। फिर तौलती-सी नजरों से प्रिया को सिर से पैर तक देखने लगा था। 'मानना पड़ेगा भई, यू आर एक्सक्विजिटली ब्यूटीफुल !'

'थैंक्स फॉर द कम्पलीमेंट !' प्रिया ने जिस बेबाक स्वर में उत्तर दिया, शायद अरुण को उसकी आशा नहीं थी। अपनी हतप्रभता को छिपाता-सा वह हंसा—'अच्छा ! आप इस भाषा में बोलना भी जानती हैं। आई नेवर एक्स-पेक्टेड दैट आलसो। सो यू पोसेज ब्यूटी प्लस ब्रेन्स···वण्डरफुल !'

अरुण ने जेब से सिगरेट केस निकाला, होंठों के बीच एक सिगरेट दबाता बोला—'ज़रा, इस लाइटर से सिगरेट जला दीजिए, अपनी नाजुक उंगलियों से।'

प्रिया ने लाइटर को उलट-पुलटकर देखा, कैसे जलाया जाए, समझ नहीं सकी। अरुण फिर हंसा—'इसे जलाना आपको सीखना होगा, यानी कि मिस, माना आप बहुत खूबसूरत हैं, बहुत इंटेलिजेंट भी···लेकिन ऊंची सोसाइटी में 'मूव' करना आपको सीखना होगा···और इतनी 'परफैक्टली' कि मुझे कोई शिकायत न हो।' अरुण ने लाइटर के साथ प्रिया की उंगलियां दबाईं, होंठों तक ले जाकर सिगरेट सुलगा ली, लाइटर वापस लेते वे नाजुक, नर्म उंगलियां

फिर दबाई,···वंकिम दृष्टि से प्रिया की प्रतिक्रिया को उनके मुख पर देखना चाहा···वहां कोई प्रतिक्रिया नहीं थी।

'जस्ट लाइक ए स्टेच्यू इन मार्बल!' अरुण ने ठहाका लगाया, 'चलिए, जीना आपको हम सिखा देंगे।'

'ब्यूटी पार्लर' में प्रिया को प्रवेश कराते अरुण ने 'ब्यूटी स्पेशलिस्ट' के कान में झुककर कुछ कहा, फिर 'आप इन्हें परफेक्ट कीजिए, मैं इनके लिए 'ड्रेस' लेकर अभी आता हूं'—कहता चला गया।

लगभग एक घण्टे बाद जब प्रिया ने 'ब्यूटी पार्लर' के बाहर कदम रखा, तो अरुण उसे देखता स्तम्भित रह गया—'ओ माई गॉड! नेवरसीन सच ए परफेक्ट ब्यूटी'! बन्दा आदाब करता है आपको एक शाहजहां के अन्दाज़ से, कहीं आप मुमताजमहल तो नहीं!'

प्रिया उन्नाबी-लाल, सितारों जड़ी साड़ी के आंचल को, स्लीवलेस चोली द्वारा ढंके से अधिक खुले वक्ष पर, अन्दाज़ से संभालती, अरुण आहूजा की आंखों में सीधे देख रही थी। तीन इंच ऊंची सैंडिल पर तुली-सी उसकी अंग-यष्टि का एक-एक उभार उभर उठा था···उन्नत वक्ष और अधिक उन्नत लग रहा था—क्षीण कटि और पतली! नितम्बों तक झूलती वेणी अजन्ता-स्टाइल के जूड़े में गुम्फित कर दी गई थी···काले सघन केशों के बड़े से जूड़े की पृष्ठभूमि में, हंसिनी-सी उजली ग्रीवा और कोमल और मोहक हो उठी थी···! उज्ज्वल आंखों और कजरारी पलकों को 'आई-शैडो' ने इन्द्रजाल का सम्मोहन दे दिया था···! केवल एक घण्टे में प्रिया ने वे बंकिम कटाक्ष, वह मोहक मुसकान भी सीख ली थी कि अरुण सचमुच स्तम्भित रह गया था··! चितवन तक बदल गई थी···किन्तु प्रिया की दृष्टि अरुण की ओर उठती तो एकदम सीधी, बेबाक, जैसे वह कोई सौदा करने आई हो जैसे अरुण सौदागर हो···जैसे उसे बिकना तो हो···किन्तु उसे अपनी कीमत पर नाज़ हो। 'इस नज़र को भी खरीद न लिया, तो मेरा नाम अरुण आहूजा नहीं!' प्रिया की दर्पित भंगिमा, अरुण के 'ईगो' के विषधर को चुनौती-सी दे रही थी, जैसे सोया नाग जगा दिया गया हो···और फन काढ़कर खड़ा हो गया हो। 'इस नाज़ को खरीद न लिया, तो मेरा नाम अरुण आहूजा नहीं'!'···!' मन में दुहराते अरुण ने बाईं बांह बढ़ा दी, प्रिया की दाहिनी संगमरमर-सी उज्ज्वल मृणाल भुजा को जैसे खींचकर अपने पास में कस लिया···। वे 'ब्यूटी पार्लर' की सीढ़ियां उतरने लगे थे···कार में बैठते अरुण

चौंका—'अरे, एक चीज़ तो मैं भूल ही गया···आपकी इस साड़ी, और साड़ी से अधिक आपके इन कश्मीरी सेब जैसे गालों से 'मैंच' करता यह रुबीज़ का सैट तो पहन लीजिए···लाइए, मैं पहना देता हूं···यह नेकलेस, ये टाप्स और ये रिंग।' प्रिया को नेकलेस पहनाते, अरुण की आंखों में भी लाल रंग झलक आया—'आपको भी मानना पड़ेगा मेरी चॉयस को···देखिए, साड़ी से लेकर रिंग तक कितनी सजी है आप पर! बिलकुल जैसे आप 'शैम्पेन' का एक छलकता जाम हों···! आइए, आपको होंठों से लगा लूं!' अरुण ने परे हटती प्रिया को खींचकर, उसके हिमशीतल होंठों पर अपने तप्त होंठ रख दिए··· 'वट व्हाई आर यू सो कोल्ड डियर? चलिए, आपको गर्म होना भी सिखा दूंगा। आपके डैडी और मेरे डैडी में बात हो चुकी है, अगले महीने मैं कनाडा जा रहा हूं। शादी उसके पहले हो जाएगी, हनीमून आप चाहेंगी तो लन्दन में मनाया जा सकता है या न्यूयार्क में भी···। शोफर, चलो, होटल कांटिनेंटल।' अरुण ने फिर सिगरेट सुलगा ली थी···कार फिर साठ-सत्तर की स्पीड से शहर के राजमार्गों पर दौड़ने लगी थी। अरुण के दिए रंग और गन्ध से पोर-पोर दमकती-महकती प्रिया ने समर्पण कर दिया था···किसी होश को नहीं,··· किसी वेहोशी को! मां, बाबा, देवदास—उसकी आंखों के इन्द्रजाल में उन पराजित सच्चाइयों-जैसे कौंध रहे थे···जो सचमुच निर्दोष, विवश 'सच' थे···! किन्तु उन निर्दोष विवश 'सचों' के साथ जीना शायद दुश्वार था···ऐसे ही 'सचों' ने तो मां को खंड-खंड कर डाला है···बाबा को शूल-शय्या दी है···प्रिया को भी जहर के घूंट दिए हैं···। सबसे अधिक, अपनी उसी अभागिन मां की खातिर प्रिया ने झूठ के इन्द्रजाल को स्वीकार कर लिया था···करने का प्रयास कर रही थी···। उसे लग रहा था, जैसे सोने के नहीं, कहीं अधिक मूल्य पर रत्नजटित पिंजरे में, उसके अस्तित्व को कैद किया जा रहा है···अब शायद ···चुगने को मोती मिलेंगे···! किन्तु, क्या उन मोतियों को चुगती प्रिया 'ज़ी' पाएगी···? साधारण अन्न के दानों की, नीले आकाश के विस्तार की या फूलों से लदी टहनी की कल्पना अब व्यर्थ है···अब तो, रत्नजटित यह पिंजरा और चुगने को मोती ही मिलेंगे···' प्रिया ने आकाश की ओर दृष्टि उठाई···आकाश के उन्मुक्त विस्तार को एक हसरत से एकटक देखती प्रिया 'होटल कॉण्टीनेण्टल' के भव्य हाल में अरुण आहूजा के पार्श्व में कब खड़ी कर दी गई···उसे होश नहीं था। होश तब आया जब यशवन्त जी ने माइक पर घोषित किया—'लेडीज़ एण्ड जैण्टलमैन, आज की यह पार्टी श्रीराम

आहूजा के सुपुत्र, अरुण आहूजा और मेरी बेटी प्रिया यशवन्त के 'एंगेजमेंट' का सेलिब्रेशन है···! लेट द बैण्ड प्ले नाउ, एण्ड यू शाल कैन ग्रीट द कप्ल ! वेलकम !'

सबसे पहले प्रिया के श्वसुर श्रीराम आहूजा बढ़े। प्रिया के गले में माणिक-मोती का एक बेशकीमती हार पहनाते, पैरों में झुकती प्रिया के सिर पर क्षण भर के लिए हाथ रखते-न रखते से यशवन्त जी की ओर बढ़ गए—'चलिए, अब यहा सेलीब्रेशन होने दीजिए। हम लाउंज में चलते हैं, आज बाकी सब भी तय हो जाना है।' प्रिया ने श्रीराम आहूजा का एक-एक व्यापारिक-सा शब्द सुन लिया था···यशवन्तजी की व्यावसायिक मुद्रा भी देख ली थी। बैण्ड में सुमधुर संगीत बजने लगा था, फ्लोर पर जोड़े थिरकने लगे थे···अरुण ने प्रिया को बाहुपाश में ले लिया था · फ्लोर पर उसे कमे धीरे-धीरे 'स्टेप्स' सिखाने लगा था—'यस वन, टू, थ्री'—बिलकुल ठीक··· बाकई आप सब-कुछ बहुत जल्दी सीख लेंगी···आई एम रियली फॉर्चुनेट !'

उस सांझ के बाद, पूरे एक सप्ताह प्रिया की हर सांझ कभी किसी होटल में, कभी किसी क्लब में अरुण के साथ बीतती रही···काफी रात गए प्रिया घर लौटती तो सौदामिनी को प्रतीक्षा करती पाती···उसी जर्जर लकड़ी के दरवाज़े की चौखट पर, स्टूल पर बैठी स्कूल के किसी काम में व्यस्त या कोई पुस्तक पढ़ती। बाबा प्रायः सो चुके होते।···'ठीक तो है न प्रिया ! 'सौदामिनी पूछती···वह स्वर बहुत आशंकित-सा होता—'अच्छी हूं मां, बहुत अच्छी···!' प्रिया का स्वर कदाचित् स्वरहीन होता···। थकी प्रिया गहरी नींद में डूब जाती···कभी रात के सन्नाटे में आंख खुलती तो लगता···कोई रो रहा है··· धीरे-धीरे···सिसकियों को दबाता-सा···'मां ही होगी···उंह'···कहती प्रिया करवट बदल कर 'ट्रैंक्विलाइज़र' की एक गोली गटक लेती। अरुण ने समझाया था—'आजकल अमरीका में औसत आदमी ट्रैंक्विलाइज़र लेता ही है, वरना इतनी 'स्पीड' में जीना कठिन हो जाए। एण्ड दे आर एब्सोल्यूटली हार्मलेस ! देखतीं नहीं, तुम कितनी बदल गई हो—? एकदम बोल्ड ! लेट अस एन्जॉय द मोमेण्ट्स एण्ड फारगेट द रेस्ट' की फिलॉसफी को तुम्हें सिखाना ही नहीं पड़ा···खुद सीख गई ! रियली यू आर वण्डरफुल माई लव !'

प्रिया सवेरे देर से उठती, घण्टों नहाती, खाती, फिर सो जाती। बाबा

के पास भी अधिक नहीं बैठती···मां से बहुत कम बोलती और शाम को ठीक पांच बजे अरुण के साथ चली जाती। बाबा और सौदामिनी एक-दूसरे की नज़रें बचाते रहते···प्रिया के, बाबा के, सौदामिनी के बीच जाने कैसे फासले फैल गए थे···।

आठवीं रात प्रिया घर नहीं लौटी। सौदामिनी सारी रात प्रतीक्षा करती रहीं, बाबा सारी रात करवटें बदलते रहे। सवेरे स्वयं अरुण प्रिया को छोड़ने आया था—'मैडम, रात इनकी तबियत अचानक खराब हो गई थी, इसलिए रुक गई थीं···दिन में आप 'केअर' कर लीजिएगा···मैं 'एक वीक' के लिए बाहर जा रहा हूं। शैल सी यू अगेन!'···कहता प्रिया के कपोल थपथपाता अरुण चला गया।

प्रिया सौदामिनी की बाँहों में अचेत-सी लुढ़क गई थी। 'कपड़े बदलूंगी मां···' कहती प्रिया उठ नहीं पा रही थी···सौदामिनी ने देखा, प्रिया की आंखें आहत हैं···मुख, जैसे कोई फूल रौंद डाला गया हो···प्रिया की निर्दोष चितवन पथरा-सी गई थी···सौदामिनी के लिए और कुछ समझना शेष नहीं रहा···प्रिया का कौमार्य रौंदा जा चुका है, यह स्पष्ट था। किन्तु इसकी छूट तो यशवन्त जी और सौदामिनी ने अपने-अपने ढंग से दे ही दी थी···युवा रक्त···नहीं संयम रख सके होंगे···। सौदामिनी ने सहज होना चाहा, प्रिया को भी सहज करवा देना चाहा···किन्तु प्रिया की दृष्टि इतनी पथरा चुकी थी कि सौदामिनी घबरा गई। प्रिया के विशाल नयनों के विस्तार में एक रेगिस्तानी शून्य उभर आया था···इन आंखों से तो, फूल खिले होने चाहिए थे···! हे भगवान, रक्षा करो।' सौदामिनी मन ही मन निरन्तर प्रिया के लिए प्रार्थना करने लगी थीं···शय्या पर निश्चल लेटी प्रिया इतनी निस्पन्द बनी रहती कि कभी-कभी सौदामिनी उसकी सांसों को सुनने उस पर झुक जातीं। एक बार प्रिया उन्हें पकड़कर हंस पड़ी थी, 'क्या सुन रही हो मां, मेरी धड़कनें···? बिलकुल नार्मल हूं! सेंट परसेंट जीवित! और बहुत खुश! जानती हो मां, अरुण कह रहे थे—शादी यहां होगी, हनीमून लन्दन या न्यूयार्क में···अब तो खुश हो मां, बोलतीं क्यों नहीं?' प्रिया सौदामिनी को झकझोर देती।—'तुम्हारे लिए लन्दन या अमरीका से दवा भिजवा दूंगी, बाबा! अब तुम भी बिलकुल अच्छे हो जाओगे, अगर तब तक ऊपर ही न चले गए!' प्रिया की आंखें ही नहीं, स्वर भी भावहीन हो उठा था···वह जैसे एक नशे में रहती, या एक बेहोशी में।

एक सप्ताह बीता, दूसरा, तीसरा भी। विवाह की तिथि आई, निकल गई। न अरुण आया, न यशवन्त जी, न कोई समाचार···जैसे एक सप्ताह वह सब-कुछ जो हुआ, एक सपना था हां! मास बीतते प्रिया वमन करने लगी थी···सौदामिनी चिन्तित, विक्षिप्तता की सीमा तक परेशान हो उठी थी।

सौदामिनी ने यशवन्त जी को सन्देश भिजवाया। पहले दिन संक्षिप्त उत्तर मिला—'देखता हूं।'

तीन दिन की प्रतीक्षा के बाद सौदामिनी ने फिर, 'प्रिया की दशा लिखते, पत्र भिजवाया। उत्तर आया, 'मुझे अफसोस है, अरुण दगाबाज निकला। वह योरोप जा चुका है। सुना, वह वहां पहले ही एक अमरीकी लड़की से शादी कर चुका है, एक बच्चा भी है। खैर, जो हुआ सो हुआ। दो हजार का चैक भेज रहा हूं····प्रिया का 'एर्वॉशन' करवा देना और उससे कहना, कि सब भूल जाय। इसके अलावा कोई उपाय भी तो नहीं, हां, मुझे अफसोस जरूर है। और हां, एक अपने ही 'तबके' का कोई घर-वर ढूंढ कर प्रिया का ब्याह कर दो। कन्यादान देने आऊंगा···बस, अब और तंग मत करना।'

'तबका' शब्द को यशवन्त जी ने चिह्नित ('तबका') कर दिया था··· बाकी पत्र साधारण कागज पर था, नीचे यशवन्त जी के हस्ताक्षर भी नहीं थे, हां, दो हजार का 'चैक' संलग्न था।

सौदामिनी लगभग एक सप्ताह निःशब्द रही। स्कूल की छुट्टियां चल रही थीं, लू के झक्कड़ भी। मई के गर्म दिनों की तपन बाहर से अधिक मां-बेटी के भीतर थी··· पसलियों में वक्ष धड़कता नहीं, तड़पता था···किन्तु न प्रिया की आंखों में एक आंसू था, न सौदामिनी के और आंसुओं के साथ उनके बीच शब्द भी शेष हो चुके थे।

'एबॉर्शन' के समय प्रिया अचेत हो गई थी··· फिर तीव्र ज्वर चढ़ आया, सैप्टिक हो गया था। सन्निपात की हालत में, तकिये पर सिर इधर-उधर पटकती, छटपटाती प्रिया अस्फुट स्वर में बार-बार एक ही नाम लेती—देवदास···। कभी-कभी गुनगुनाने लगती—

> अनजान सफर, अन्धी राहें, मंजिल का पता मालूम नहीं,
> आंखों में चांद-सितारे हैं, दुनिया का पता मालूम नहीं!

धीरे-धीरे प्रिया की दशा संभली, ज्वर उतर गया, चेतना लौट आई। दो सप्ताह अस्पताल में रहने के बाद जब प्रिया घर लौटी, तो उस शाम आकाश

फिर घुमड़ते मेघों से घिर गया था···फिर सारी रात मूसलाधार वर्षा होती रही··फिर, प्रिया की उसी अपनी कोठरी में भोर की पहली किरन ने दस्तक देकर प्रिया को जगाया···

'मां···' प्रिया ने आवाज़ दी। सौदामिनी दौड़ी आई—'क्या है बेटी···?' सौदामिनी ने प्रिया को बांहों में भर लिया था, और उस पांडुर मुख को चूमती फूट-फूट कर रोने लगी थी। प्रिया के कपोलों पर भी अविरल अश्रुधार बह निकली थी। प्रिया ने ही मां के आंसू पोंछे—'रोओ मत मां···तुम्हारे ये आंसू ही तो मुझसे नहीं देखे जाते···।' 'और तेरे मुझसे देखे जाते हैं···?' सौदामिनी आर्तनाद-सा कर उठी थीं···

'अरे भाई, मां-बेटी, ज़रा इधर तो आओ, देखो, कैसा नहाया-सा, उजला सवेरा है···कैसी शीतल मन्द बयार···और वह भी बिना प्रिया बेटी के पंखे के···! किरनों का रथ चल पड़ा है···देखो तो, किरनों के रथ पर कौन आ रहा है···स्वयं भगवान रश्मि-रथी···! और तुम मां-बेटी को कुछ दिखाई ही नहीं देता···अरे, देह के भोग को, मन का भोग मत बनाओ री दोनों···। देखो, आंसू-हँसी, दुख-सुख तो, राधा-कृष्ण जैसे चिर आलिंगन-बद्ध होते हैं, ये अलग नहीं किये जा सकते···' और बहुत दिनों बाद बाबा जोर-जोर से गाने लगे थे—

'साबार ऊपर मानुष सत्य, ताहार ऊपर नाई रे···ताहार ऊपर नाई रे··· ताहर ऊपर नाई रे···!

बाबा के कंठ से चंडीदास का स्वर सुनती प्रिया ने, आंसू पोंछ लिये··· मां को छोड़कर दौड़ी, बाबा से लिपट गई—'इसका अर्थ बताऊं बाबा? चंडीदास के शब्द हैं ये···'सबसे बड़ा सच मनुष्य स्वयं है, उसके परे कोई सच नहीं···कोई सच नहीं···' क्यों बाबा, मुझे ठीक याद है न! लेकिन बाबा यह 'मनुष्य' क्या है···यह चंडीदास ने नहीं बताया, तुम बता सकते हो?' प्रिया के केशों पर कांपता हाथ फेरते बाबा निर्वाक् थे···। सारी रात वर्षा से नहाकर प्रकृति में एक निखरी ताजगी थी···हवा में एक ताजा स्पर्श···जैसे, वह सचमुच एक नया सवेरा था, नये आरंभ का आह्वान लिये प्रिया के तन-मन के द्वार खटखटाता···। एक तूफान गुजर चुका था···एक भूकम्प-सा विध्वंस के बाद शान्त हो चुका था···उस तूफान, उस भूकम्प के भग्नावशेषों के बीच खड़ी प्रिया, फिर से पैरों-तले कोई ज़मीन तलाश करने लगी थी···फिर से आकाश के विस्तार को अपने विशाल नयनों में भरने लगी थी···। रत्नजटित पींजरे से उसे मुक्ति मिल चुकी थी···मोती चुगने की यंत्रणा से भी। किन्तु उसके

रेशमी पंख क्षत-विक्षत थे। क्या ये घाव कभी भरेंगे ···? क्या इन रेशमी पंखों से वह फिर अपने निरभ्र नीले आकाश में उड़ सकेगी···? अकेली···या कोई और पखेरू साथ होगा ···? देवदास···कहां हो तुम···कहां हो तुम···? और आओ, देखो, अब मैं 'पारो' बनने को तैयार हूं · रोम-रोम से 'पारो' बन चुकी हूं···अब यह न कहना कि तुम 'देवदास' नहीं रह गए···।' जीवन के 'क्रम' को फिर से दुहराती प्रिया 'देवदास' की प्रतीक्षा करने लगी थी। ···रात्रि के नीरव प्रहरों में करवटें बदलती, गुनगुनाती—'तुम न आओगे कभी, (मगर) फिर भी प्रतीक्षा है तुम्हारी ···!

प्रिया ने फिर से कालेज जॉइन कर लिया। उसके कपोलों की अरुणाभा भी लौट आई। किन्तु उस अरुणाभा में रक्त की अरुणिमा ही थी, आभा फीकी पड़ गई थी—जैसे टहनी पर खिला गुलाब टहनी पर ही सूखने लगा हो। वैसे प्रिया के कपोल अब भी अनछुए लगते, आंखें अब भी भोली मृगी-सी निर्दोष…! केवल उनमें पानी की कामना…आतुर कामना लिये, दिशाओं को तलाशते विस्तार-फैल-फैल गए थे; वे आंखें जैसे होंठ हो उठी थीं, प्यास से चटकतीं, अतृप्ति से तड़पतीं-सी…!

दर्पण में अपनी उन आंखों को देखती प्रिया पलकें कसकर मूंद लेती। मुंदी पलकों में वन्दी पुतलियां रेत पर छटपटाती मछली-सी तड़प-तड़प जातीं…पलकें बरबस खुल जातीं…तो सामने मरीचिका के अन्तहीन विस्तार फैले होते…प्रिया का जी चाहता, अपनी आंखों की प्यास को अपने ही आंसुओं से तृप्त कर दे…मीठा पानी न सही…खारे पानी का वह सागर दे दे, जो उसके वक्ष के कगार पर दिन-रात किसी ज्वार-सा सिर पटकने लगा था…किन्तु प्रिया के वश में उसके स्वयं के आंसू भी नहीं रह गये थे…केवल अधजली चिता का धुंआ-सा उसके वक्ष से उठता आंखों में भर-भर जाता…कड़ुआ, कसैला धुआं…

प्रिया कालेज के स्टाफ-रूम में बैठी अगली क्लास की तैयारी कर रही थी। 'आंसू' के कुछ अंश पढ़ाने थे। वह नोट-बुक में नोट्स ले रही थी—

मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गए थे;
हम व्याकुल पड़े विलखते
हैं उतरे हुए नशे-से!

इन पंक्तियों की शाब्दिक व्याख्या कठिन नहीं थी, प्रिया उन पंक्तियों की संदर्भ-सहित व्याख्या विद्यार्थियों को बहुत अच्छी तरह समझा सकती थी—समझा भी चुकी थी—किन्तु उन पंक्तियों में निहित किसी भोगे हुए यथार्थ का

सत्य, किसी से कह पाना भी असंभव था। कविता की भाषा में जो कुछ कोमल तरल स्पन्दित होता है··· वही यदि जिन्दगी का यथार्थ बन उठे तो कितना कठोर, निर्मम, स्पन्दनविहीन हो उठता है। देह के सच यदि प्राणों के भी सच बनना चाहें, तो प्रायः हार जाते हैं··· देह और प्राणों की चिर आलिंगनबद्धता के बीच जाने कितनी दुधारी तलवारें लटकती रहती हैं···जाने कितनी दूरियां फैली होती हैं बिलकुल क्षितिज की सीमा-रेखा पर आलिंगन-बद्ध धरती और आकाश जैसी प्रतीत होती मरीचिकाएं, जो होती नहीं हैं···बस 'प्रतीत' होती रहती हैं।

प्रिया खिड़की से क्षितिज की उसी आलिंगन-बद्ध सीमा-रेखा को देखने लगी थी · उस सीमा-रेखा पर एक मुख अस्पष्ट धूमिल रेखाओं में उभर रहा था · देवदास का ! प्रिया देवदास की उन बड़ी-बड़ी कवियों-सी आंखों में बार-बार खो जाती थी···उन आंखों के सम्मोहन में · जो उसके सारे कठोर यथार्थ के बीच अब भी किसी कविता-सा कोमल, तरल, स्पन्दित था ·।

सहसा मिसेज माथुर अखबार लिये झपटती-सी आईं—'लुक डियर प्रिया, ए ग्रेट न्यूज ! तुम्हारे पिता श्री यशवन्त जी आहूजा ने एक नई क्लाथ-मिल का विशाल पैमाने पर उद्घाटन किया है। आजकल इंडियन फैब्रिक्स की फॉरेन कंट्रीज में बहुत मांग है, फिर यह मिल हजारों को रोजी-रोटी भी देगी ···दो-दो कोठरियों के घर देगी ' मिल की ओर से अस्पताल, स्कूल और अन्य सुविधाएं भी प्रदान की जाएंगी। यशवन्त जी ने घोषित किया है कि मिल के लाभ में से वे एक निश्चित राशि बोनस के रूप में देंगे। समाजवाद की स्थापना के लिए यशवन्त जी और श्रीराम आहूजा ने जो ठोस कदम उठाये हैं, सरकार ने उनका स्वागत किया है···शायद सरकारी ग्रांण्ट भी मिले। देखो, इस फोटो में श्री यशवन्त जी, कैंची से फीता काटते, उद्घाटन कर रहे हैं ' ये श्रीराम आहूजा उनके दाईं ओर हैं ''मन्त्रियों का समूह भी उपस्थित है। ग्रैण्ड !'

मिसेज माथुर के स्वर में कोई व्यंग्य नहीं था। वे कॉलेज में इतिहास और नागरिकशास्त्र पढ़ाती थीं। सीधी-सरल भद्र महिला थीं, दो प्यारे बच्चों की मां। माथुर उन्हें कॉलेज छोड़ने और लेने स्कूटर से आते थे—शान्त, भद्र-पुरुष। मिसेज माथुर का जीवन जैसे एक शान्त-सुनिश्चित क्रम-जैसा था—टिक्-टिक् करती, निरन्तर चलती किसी दीवाल-घड़ी-सा। कभी-कभी प्रिया सोचती—क्या वह भी ऐसी दीवाल-घड़ी बनना चाहेगी · बन सकेगी ''? प्रिया

को एक तिक्त हंसी आ जाती—एक से वारह की परिधि में घूमती···समय की सूचना देती···प्रतिक्षण का गणित गिनती,···यह दीवाल-घड़ी स्वयं को क्या दे पाती हैं···? एक अविराम चक्र की यान्त्रिकता ही न ? क्या ऐसी यान्त्रिकता की यातना प्रिया की सांसें स्वीकार कर लेंगी···? दृश्य गतिमयता के नेपथ्य में अदृश्य जड़ता को···घर-गृहस्थी की एक निश्चित परिधि को···जीवन-भर के लिए एक सुनिश्चित पल, घण्टों की गणित की गिनती को···? न···न···इस सुनिश्चित जड़ता से तो वे अनिश्चित आलोड़न अच्छे, जिनमें स्पन्दन जीवित तो होते हैं···भले ही वे स्पन्दन आहत, क्षत-विक्षत, रक्त-रंजित हों···। प्रिया अव भी केवल जीवन का गणित स्वीकारने के लिए प्रस्तुत नहीं थी···अब भी केवल आंकड़े नहीं, 'स्पन्दन' चाहती थी···!

मिसेज़ माथुर ने अखवार मेज पर रख दिया था, वैनिटी वैग में से आईना निकालकर, मेकअप ठीक करने लगी थीं। पाउडर का पफ फेरते हुए वोलीं—'प्रिया, इफ यू डोण्ट माइण्ड, तुम्हारे विवाह का क्या हुआ डियर ? इट वाज़ ए ग्रेट न्यूज़ कि तुम्हारा 'एंगेजमेंट' श्रीराम आहूजा के एकलौते वेटे अरुण आहूजा से हो गया है। शायद विवाह भी कुछ ही दिन वाद होने वाला था न ! मैं तो सचमुच वहुत खुश थी कि तुम्हारी-जैसी अप्सरा को कोई गन्धर्व कुमार मिल गया···हम सवने मिलकर तुम्हें प्रेजेण्ट देने की चीज़ भी निश्चित कर ली थी—सारे स्टॉफ की ओर से हम तुम्हें एक 'क्रेडल' यानी कि पालना देने वाली थीं, इस 'विश' के साथ कि—'दिस इयर जॉय, नेक्स्ट इयर वॉय।' 'क्यों, कैसी थी हमारी प्रेजेण्ट या विश ?···लेकिन, फिर क्या हुआ···? हम सव तो विवाह के निमन्त्रणपत्र की प्रतीक्षा करती रह गईं। दो-ढाई महीने तो कॉलेज ही वन्द रहा, कोई कहीं···कोई कहीं···और जिस दिन कॉलेज खुला तो देखा मिस प्रिया अपनी कुर्सी पर यथावत् विराजमान हैं···! तुमसे पूछना तो चाहा था, हिम्मत नहीं हुई। तव तुम्हारी तवियत ठीक नहीं लग रही थी, शायद वीमार पड़ गई थीं तुम···है न ? क्या तकलीफ हो गई थी ? घर में तो सव ठीक है न ? एण्ड व्हाट एवाउट योर मैरिज डियर···?'

प्रिया ने क्षितिज से दृष्टि लौटाकर, अखवार पर केन्द्रित कर ली थी···उस फोटो पर तर्जनी रखती उन्मादिनी-सी हंस पड़ी—'दीदी, मेरी शादी की परिणति इस मिल में हो गई है···समाज की स्थापना के इस ठोस प्रयास में। वस ! और सव विलकुल ठीक है···मैं, वावा, मां सव विलकुल ठीक हैं। किसी दिन मेरे साथ मेरे घर चलिए न···!' मिसेज माथुर प्रिया की हंसी में निहित न

उन्माद को पकड़ पाईं, न व्यंग्य को, बस, इतना ही समझ सकीं कि प्रिया का विवाह शायद अभी नहीं होगा।

दूसरे पीरियड का घण्टा बज उठा। मिसेज माथुर और प्रिया तत्परता से उठीं, अपनी-अपनी कक्षाओं की ओर बढ़ गईं। प्रिया 'आमू' की उन पंक्तियों की सन्दर्भ-सहित व्याख्या समझाने लगी थी। ठीक एक टेप-रिकार्डर-सी बजने लगी थी…। जैसे, टेप-रिकार्डर पर 'टेप' किये स्वर की आवृत्तियां और घड़ी का टिक्-टिक् करता निरन्तर गतिमान पेण्डुलम, प्रिया की चेतना में गड्ड-मड्ड हुआ जा रहा था उसने क्लास जल्दी छोड़ दिया। सिर में सचमुच सन्न दर्द होने लगा था।

तीन बजे की धूप में बस-स्टॉप पर बस की प्रतीक्षा करती प्रिया, तेज धूप मे सरोवर से तोड़कर किनारे पर फेंक दिये गये कमल-जैसी कुम्हला गई थी…। बस पर चढ़ती, लड़खड़ा गई किसी ने उसे गिरते-गिरते संभाल लिया था, सीट पर बैठाकर, पार्श्व में बैठ गया था कुछ क्षणों बाद 'थैंक्स' कहती प्रिया ने देखा, उसके पार्श्व में बैठा उसे संभालने वाला वह तीस वर्ष के लगभग का एक सांवला युवक था, दृढ़ होंठ, पुष्ट भुजाएं, परिपक्व दृष्टि—'आई एम मनसिज चौधरी, डॉक्टर मनसिज चौधरी क्या आपकी तबियत ठीक नहीं है? एज ए डॉक्टर मे आई रेण्डर यू एनी हेल्प …?'

'नो थैंक्स, आई एम ऑल राइट नाउ जरा धूप में परेशान हो गई थी देखिए न, कितनी तेज धूप है …?' प्रिया, रूमाल से माथे के स्वेद-बिन्दु पोंछने लगी थी।

'धूप तेज तो है, लेकिन आपके लिए, मेरे लिए नहीं यू आर वैरी डेलीकेट मिस ऑर…'

'मिस प्रिया ठाकुर लेक्चरर इन हिन्दी।'

मनसिज एक छेड़ती-सी हंसी हंस पड़ा—'तब तो मेरे लिए 'चांसेज' हैं …। कहीं आप कहतीं 'मिसेज प्रिया ठाकुर ' तो डॉक्टर मनसिज को चक्कर आने लगता और संभालना आपको पड़ता।'

'मेरे घर चलिए, चाय पीकर जाइयेगा।' प्रिया सहसा मनसिज को आमंत्रित कर बैठी थी पता नहीं क्यों दूसरे ही क्षण उसने स्वयं से पूछा था।

'नो थैंक्स, फिर कभी, आज तो ड्यूटी पर हूं। वैसे आपका कॉलेज इसी बस-स्टाप के पास है न, फिर मिलूंगा बॉय।' प्रिया उतर गई, बस चली गई। मनसिज की 'बॉय' प्रिया के कानों में हल्की प्रतिध्वनियों में गूंजने लगी थी।

प्रिया ने लक्ष्य किया था—मनसिज के होंठ श्यामल थे, बत्तीसी झकाझक उज्ज्वल···। और हंसी···पता नहीं, उस बत्तीसी के कारण उज्ज्वल थी या नेपथ्य की किसी उज्ज्वलता से प्रतिबिम्बित···? 'उंह···होगा···मुझे···क्या···? प्रिया ने स्वयं से कहना चाहा, कहा भी···पर, पता नहीं, उसके स्वयं के कानों ने यह 'मुझे क्या'···सुना या अनसुना कर दिया···प्रिया कुछ उलझ-सी गई थी।

एक सप्ताह बाद, प्रिया कॉलेज से लौटती, बस में चढ़ी, खिड़की के बाहर देख रही थी कि वह दौड़ता आ रहा था है। बस चलने लगी थी। चलती बस में छलांग लगाकर चढ़ते मनसिज को देखती, प्रिया की धड़कन रुक-सी गई थी···कहीं गिर न पड़े···किन्तु, अगले ही क्षण हांफता मनसिज चौधरी उसके पार्श्व में बैठा अपने श्यामल होंठों से उज्ज्वल हंसी बिखेर रहा था—'अरे, आपको क्या हुआ···बिलकुल 'पेल' हो गई···क्या फिर तबियत खराब है···?'

'ओह···नहीं तो···' कहती प्रिया संकुचित हो उठी। कैसे कहती कि मनसिज के गिर पड़ने के डर से उसकी धड़कन रुक-सी गई थी···यह भी कैसे कहती कि पार्श्व में मनसिज को पाकर धड़कनें तेज हो उठी थीं···।।

'आप बहुत 'करेजियस' हैं, रादर शिवलरस्।' प्रिया के कपोलों का रंग गहरा हो उठा।

'और आप बहुत चार्मिंग' हैं !···ब्यूटीफुल बियॉन्ड वर्ड्स···मेरा मतलब है लफ्जों में जिसे बयान नहीं किया जा सकता, इतनी खूबसूरत ! 'लेडी-किलर' मनसिज चौधरी को भी मानना पड़ेगा कि ऐसी 'ब्यूटी' उसने आपके पहले नहीं देखी··आपको देखा तो लगा··जैसे आप कोई 'सपना' हैं । मेरा मतलब है··· सचमुच में तो इतनी खूबसूरती देख पाना, अभी तक तो मनसिज चौधरी के लिए सपना ही था···!'

प्रिया के कपोलों का रंग और गहरा उठा···। उसे निस्संकोच दृष्टि से देखता मनसिज कह रहा था, 'इजाजत हो तो आपको छूकर देखूं कि आप सचमुच ही तो कोई 'सपना' नहीं, या एक खूबसूरत हकीकत हैं··! ऐसा चांदनी में नहाया रंग··और इतनी बड़ी-बड़ी आंखें ! बाप रे, इनमें कोई खो जाय तो उसे ढूंढ़ना मुश्किल हो जायगा···।'

प्रिया ने कलाई बढ़ा दी, 'छूकर ही नहीं, सुई चुभोकर भी देखिए कि खून निकलता है या नहीं और उस खून का रंग भी वैसा ही लाल है या नहीं

जैसा ''जैसा उस बूढ़ी मां के खून का होगा !' प्रिया ने इशारा किया'''कोने की सीट पर एक जर्जर बुढ़िया, एक थैला थामे बैठी थी, बस के हिचकोलों से हिल-हिल जाती। मुख पर झुर्रियों में अंकित जिन्दगी के जख्मों-से भरी।

मनसिज प्रिया की कलाई नहीं छू सका, उस बूढ़ी मां को देखता रह गया '''प्रिया के खिले फूल-से मुख के अपूर्व सौन्दर्य की तुलना में वह जर्जर मुख कितना कुरूप था'''। किन्तु शायद प्रिया ठाकुर ठीक कह रही है, प्रिया की मक्खन-सी कोमल स्निग्ध कलाई और उस बूढ़ी मां की चिता की अधजली लकड़ी-सी कलाई से खून तो एक-सा लाल निकलेगा, यदि सुई चुभोई जाय'''। डॉक्टर मनसिज चौधरी जो आये-दिन मानव-शरीरों को निष्प्राण होते देखने का आदी हो चुका था, जिसके लिए किसी शव के पोस्ट-मार्टम के बाद डेटॉल से हाथ धोना और उस मानवीय अस्तित्व को भी स्मृति में धो डालना, एक-जैसा था' सहसा जिन्दगी और मृत्यु के बीच की दूरी नापने लगा था'''पार्श्व में बैठी प्रिया ठाकुर और उस ओर बैठी उस बूढ़ी मां के बीच की दूरी भी '''।

'अरे, आप तो सचमुच सीरियस हो गए ! आपके मजाक के जवाब में मैंने भी सिर्फ एक मजाक ही किया था, डॉक्टर मनसिज !' प्रिया एकदम सहज हो उठी थी—'अब आज तो आपको घर चलना ही होगा, यदि मुझे चाय पिलानी है तो ''नहीं तो आज चाहे जितना सिर-दर्द हो, मैं अकेली चाय पीनेवाली नहीं।'

प्रिया के आमंत्रण के स्वीकार में प्रिया के कोमल नपे-तुले कदमों के साथ कदम मिलाता मनसिज, उस संकरी गली में बिखरी गन्दगी से पैर बचाते, प्रिया के उन उजले कबूतरी-से पैरों को देख रहा था, जो सस्ती-सी चप्पल पहने, चुपचाप उस संकरी-गंदी गली का फासला तय कर रहे थे। मनसिज ने नाक पर रूमाल रख लिया। खुली नाली से दुर्गन्ध उठ रही थी।

'आई एम सॉरी डॉक्टर मनसिज ' ये गली सचमुच बहुत गन्दी है ' प्रिया अपने दरवाजे की सांकल खटखटाने लगी।

सौदामिनी ने दरवाजा खोला, अचकचा-सी गई। दृष्टि में प्रश्न था, 'यह कौन ?'

'अरे मां, तुम तो ऐसी घबरा गई, जैसे भूत देख लिया हो। ये भूत-वूत नहीं, डॉक्टर मनसिज चौधरी हैं '''। वैसे पेशे से ये भूतों के ही डॉक्टर हैं, अर्थात् *जिन्दा मनुष्यों का इलाज करने वाले नहीं, लाशों का पोस्ट-मार्टम करने वाले* '।' प्रिया ऐसी सहज होकर हंस रही थी '''जैसे बहुत पहले कभी हंसा

करती थी···मां के गले से झूलती या बाबा से लिपटती···। सौदामिनी को याद आया, एक दिन बन्दर का नाच देखती, दुलहन बनी बन्दरिया को, बन्दर के पीछे-पीछे लाल चिथड़ा लपेटे ससुराल जाती, देखती प्रिया हंसते-हंसते बेहाल हो गई थी—'अरे मां, देखो तो इस बन्दरिया को, कैसी दुलहन बनी हुई है—पूंछ वाली दुलहन···!' तब प्रिया अबोध थी, उसकी हंसी भी। फिर प्रिया में हंसी का बोध जागा, आंसुओं का भी···और उसकी हंसी के बोध, आंसुओं के सैलाब में डूब गए···उन मुसकराते बोधों ने आंसुओं में डूबकर 'आत्मघात'-सा कर लिया था···! कम से कम, हंसी या मुसकाने के वे 'बोध' होश में तो नहीं ही रह गए थे···आज उन्हें होश में आते देखती सौदामिनी, अपने आंसू छिपाती रसोई की ओर बढ़ गई—'बाबा की कोठरी में ले चलो बेटी इन्हें, मैं चाय लाती हूं।'

· प्रिया हंसती-मुसकराती बाबा को भी मनसिज का परिचय ठीक उन्हीं शब्दों में दे रही थी, जैसे मां को दिया था। बाबा हा-हा करते हंस पड़े थे—'ज़रा इधर तो आओ भूतों के डॉक्टर, तुम्हें छूकर देखूं, कहीं प्रिया किसी भूत को ही तो नहीं पकड़ लाई···?' मनसिज की कलाई को क़ांपते हाथों से पकड़ते बाबा की वह हंसी इतनी भीगी-सी थी कि वह आर्द्रता न मनसिज से छिपी रह सकी, न प्रिया से।

सौदामिनी चार मागों में चाय ले आई थी। 'थैंक्स' कहता मनसिज चाय 'सिप' करने लगा था, 'मां जी, सचमुच एक जमाने के बाद भूतों के इस डॉक्टर को इतनी बढ़िया चाय मिली है, आपकी बेटी की कृपा से। आई एम रियली थैंकफुल?'

उसके बाद हर दूसरे-तीसरे दिन मनसिज प्रिया के घर में चाय पीने लगा। एक शाम, विनम्र स्वरों में सौदामिनी के सम्मुख झुकता-सा बोला, 'मां जी, आप इजाजत दें तो आज प्रिया को थोड़ी देर घुमा लाऊं। वादा करता हूं, आठ के पहले छोड़ जाऊंगा।'

'लेकिन यदि मैं न चलूं तो···?' प्रिया शरारत से मुसकरा रही थी।

गली पार कर, सड़क पर आते, मनसिज प्रिया के कानों पर झुका—'मिस प्रिया, एक बात याद रखिए, मनसिज चौधरी गांधीजी के सत्याग्रह में विश्वास नहीं रखता, सुभाष बोस की सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखता है! आपने मनसिज चौधरी का दिल चुराया है···सज़ा में वह आपको 'उमर-क़ैद' दे सकता है···देगा भी···!'

'उमर-कैद'...इन बाहों की 'उमर-कैद'...? इन पुष्ट भुजाओं में प्रिया का कोमल अस्तित्व निश्चित रूप से सुरक्षित रह सकेगा...सुरक्षा ही नहीं, सम्मोहन भी है इन पौरुष से भरी भुजाओं में...! चीर-फाड़ करनेवाले ये हाथ जीवन-जगत् के यथार्थ से अनमिल भी नहीं...मनसिज चौधरी न देवदास है, न अरुण आहूजा...। क्या मनसिज ही प्रिया का अधिकारी पुरुष है...? क्या प्रिया को इन बाहों का आमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिए...? किन्तु क्या इन बाहों के पीछे मनसिज के मन का भी आमन्त्रण है, या यह सब फिर एक मरीचिका का भ्रम है...? विश्वासों की छलना का कोई नया रूप ? नारी के प्रियात्व से पुरुष का फिर कोई निर्मम खेल...?

देवदास...अरुण...मनसिज...प्रिया का माथा चकराने लगता...आंखों में अंधेरे के वृत्त घिरने लगते...उसे लगता वह किसी चक्र में नहीं, 'चक्रव्यूह' में फंस गई है...उसे मनसिज का स्पर्श 'मायावी' लगता, मनसिज का स्वर किसी जादू-सा, मनसिज का अस्तित्व किसी भ्रम-सा...प्रिया स्वयं से बार-बार पूछती, उसकी नारी-देह से उसके नारीत्व की आत्मा तक को, क्या मनसिज ठीक-ठीक स्वीकार दे सकेगा...? या वह फिर छली जायेगी—देह से लेकर आत्मा तक के किसी न किसी स्तर पर...न...न...अब और छली जाना उसके वश की बात नहीं है।

तरल होती प्रिया जमने लगती...मनसिज के पार्श्व में तेज हो उठनी उसकी धड़कनों का दम घुटने लगता...मनसिज के साथ बीतते क्षण उसे 'सपने'-जैसे लगते...उसे आंखें खोलते डर लगता कि कहीं सपना फिर न टूट जाए... किन्तु आंखों को सपनों का भ्रम कितनी देर दिया जा सकता है...? सपनों-भरी रात भी अन्तहीन तो नहीं हो सकती...! सूर्य को, रात के स्वप्निल तारों-भरे सम्मोहन को, अपनी प्रखर किरणों के निर्मम हाथों से मिटा देने से कौन रोक सकता है...? हां, यह बात और है कि सूर्य की प्रखर किरणों को और रात के सितारों-जड़े सम्मोहन को ठीक-ठीक समझने और स्वीकार देनेवाला कोई मिल जाय...अर्थात् सपनों की, यथार्थ में परिणति को स्वीकार और सुरक्षा देने वाला 'कोई'...यह 'कोई' क्या 'मनसिज' है...? है भी तो सदा बना रह सकेगा...? प्रिया का अस्तित्व मनसिज के चौड़े पुष्ट वक्ष में समा जाना चाहता था, किन्तु उस वक्ष पर सिर टेकते ही उसे विद्युत् के झटके-से लगने लगते...पास आती प्रिया कांप कर परे हट जाती...'व्हाट इज द प्राब्लेम विद यू ?' मनसिज पूछता...प्रिया की आंखों पर, होठों पर चुम्बनों की वर्षा कर

देता—'घबराओ मत, इसके आगे, बिना तुम्हारी इजाजत के नहीं बढ़ूंगा'''।' उन चुम्बनों से नहाती प्रिया को लगता, किसी ठंडी दवा से उसके जलते घाव धोये जा रहे हैं'''उन चुम्बनों का स्पर्श किसी मरहम-सा उसकी आत्मा तक उतर जाता'''! किन्तु उन चुम्बनों पर विश्वास होता भी था'''नहीं भी होता था'''।

प्रिया, होश में आने के बाद से स्वयं का, और देवदास से अरुण आहूजा तक का अपना पूरा यथार्थ, मनसिज को साफ-साफ सुना चुकी थी'''। सुनने-सुनाने के उन क्षणों में मनसिज बिलकुल संयत और स्थिर था'''। जब प्रिया सब-कुछ कह चुकी, तो उसने केवल कहा था—'पास्ट इज पास्ट'''जो बीत गया सो बीत गया'''जिन्दगी पीछे मुड़कर देखने का नाम नहीं, आगे देखने का नाम है'''एण्ड आई बिलीव इन द फिलॉसफी ऑफ द मोमेण्ट्स'''सामने खड़े ये क्षण'''यह धूप, यह हवा, यह तुम या मैं'''यही सब तो सच हैं''' जिन्दगी के'''! तुम आगे-पीछे देखने में उलझी रहोगी तो एक कदम भी चल नहीं पाओगी'''फिर वक्त किसी के लिए नहीं ठहरता, टाइम एण्ड टाइड वेट फॉर नन, प्रिया ! कम आन् डियर, लेट अस मार्च ऑन विद् द टाइम्'''समय के साथ कदम मिलाती चलो, मैं साथ देने का वादा करता हूं'''! एण्ड आई बिलीव इन नो इनहिबिशन्स आर टैबूज'''चांद पर जा उतरने के इस 'रॉकेट एज' में मैं तो बैलगाड़ी पर सफर नहीं कर सकता'''! और मन्दिर में किसी पत्थर की प्रतिमा के सामने आंखें मूंदने के ढोंग से, तुम्हारी-जैसी जीती-जागती हाड़-मांस की प्रतिमा की आंखों में डूब जाना मनसिज की क्लियर-कट फिलॉसफी है—इस फिलॉसफी को स्वीकार कर लो प्रिया'''। इस बिलकुल सीधी-सादी फिलॉसफी को कॉफी की घूंटों के साथ स्वीकार कर लो, कॉफी तुम्हें पसन्द है न, फिर मनसिज क्यों नहीं ? क्या तुम मुझे कॉफी का 'सिम्बालिक' भी नहीं मान सकतीं, जो थकान उतार देती है, फ्रैश कर देती है, कुछ देर के लिए खून गर्म कर देती है'''?'

मनसिज प्रिया को बांहों में भर लेता, प्रायः कॉफी-हाउस के उस केबिन में, कॉफी की चुस्कियों के बाद, नीले प्रकाश के सम्मोहन में अपने चुम्बन घोल देता,'''किन्तु वह जब भी 'लेट अस गेट मैरीड नाउ' कहता, प्रिया छिटक कर परे हो जाती'''उसकी विशाल आंखों में भय फैल जाता'''उसकी गर्म देह ठंडी पड़ने लगती'''मनसिज'''मनसिज'''मन !' वह इतना ही कह पाती, अचेत-सी होने लगती।

'वैल, टेक योर ओन टाइम डियर, मैं अब शादी का नाम भी नहीं लूंगा, तुम 'अपसेट' हो जाती हो। टेक इट ईज़ी माई डियर···! और मुझे केवल 'मन' कहा करो न डार्लिंग, 'मन'···सिर्फ 'मन' सुनना इतना अच्छा लगता है···इतना अच्छा लगता है जैसे···'

'जैसे किसी के पोस्ट मार्टम के बाद कॉफी पीना, क्यों···?' प्रिया ने हंसकर वाक्य पूरा कर दिया था।

'ओह यस ! कॉफी···रियली···कुछ-कुछ कड़वी-मीठी कॉफी, ठीक जिन्दगी के जाम जैसी ! यह जिन्दगी कम्बख्त भी जाने कैसी कशिश में बांधे रखती है कि न मरने देती है, न जीने—ठीक तुम्हारी तरह !' मनसिज प्रिया को अपलक देख रहा था···प्रायः देखा करता था, ऐसे ही निर्निमेष, अपलक !

कॉफी-हाउस के केबिन से निकलते मनसिज और प्रिया अलग-अलग दिशाओं में बढ़ जाते । दिन और रात बीत तो रहे थे, किन्तु प्रिया को लगता था, समय रुक गया है···उसे अपने अस्तित्व पर सन्देह होता, मनसिज के यथार्थ पर, अपने सारे परिवेश पर भी·· केवल मां और बाबा पर नहीं···।

सौदामिनी कहती, 'मनसिज बहुत अच्छा है प्रिया, उसे खो मत देना !'

बाबा कहते, 'नातिन री, बाबा की सिर्फ एक बात मान ले···मनसिज को अपना ले, फिर बाबा को एक छोटी-सी प्रिया या छोटा-सा मनसिज भेंट कर कर दे·! देर मत कर प्रिया, देख, यमदेवता भैंसा हांकते चल पड़े हैं, मुझे लेने।'

उत्तर में प्रिया निरशब्द बनी रहती। 'हां', 'ना' कुछ भी नहीं कहती या कह पाती नहीं थी·। देवदास, अरुण, मनसिज चौधरी···प्रिया की विशाल आंखों में अनेक रूप बदलते, कौंधा करते···किन्तु काले मेघों—जैसे जिस विराट् अन्धकार ने उसे घेर लिया था, वहां की क्षणिक कौंध में कुछ स्पष्ट भी तो नहीं हो पाता था···

प्रिया के चारों ओर काले मेघ थे···उसकी अन्तहीन जैसी रात्रि के अन्धकार को और भी सघन बनाते मेघ···उन घुमड़ते मेघों के बीच, विद्युत् की कौंध ही नहीं, तड़प को भी झेलती प्रिया, किसी सवेरे की प्रतीक्षा कर रही थी, जो समय के कदमों से चलकर स्वयं उसके निकट आयेगा उसके स्वयं के कदमों में तो अब कोई शक्ति, कोई विश्वास शेष नहीं था ।

प्रिया ने मनसिज के चुम्बनों को स्वीकार कर लिया था, वे चुम्बन उसके दग्ध ओंठों पर नहीं, दग्ध प्राणों पर बरस जाते—आंखों से आत्मा तक उतर जाते…! मनसिज की सबल बांहों में वह शिथिल हो जाती, जैसे कठिन यात्रा की थकान उतारने लगती…जी चाहता – उन बांहों में बंधी-बंधी सो जाए… मनसिज हंसता—'प्रिया, तुम क्या सचमुच संगमरमर की ताजमहल हो ! मैगनीफिशेण्ट बट फ्रोजन…अर्थात् भव्य किन्तु पाषाण-प्रतिमा…। तुम्हें किसी साइकेट्रिक के पास ले चलूंगा जो तुम्हें प्यार के साथ 'सेक्स' का मतलब भी समझा सके…। तुम पूछोगी, मैं ही क्यों नहीं समझा देता… किन्तु 'थ्योरी' को तुम 'प्रेक्टिकल' रूप देने कहां देती हो…? और, मुझे तुमसे कहीं कुछ डर-जैसा भी लगता है…तुम्हारी इजाजत या अनुमति के बगैर तुम्हारे और निकट आने से ? पता नहीं, 'लेडी-किलर' मनसिज को तुमने किस जादू से गधा बनाकर रख दिया…'

प्रिया को मनसिज के ये शब्द किसी पवित्र सौगन्द–जैसे लगते…! धीरे-धीरे उसके क्षत-विक्षत नारी-देह और मन के घाव भरने लगे थे। किन्तु, घावों का भरना इतना आसान नहीं था। देवदास की उन प्यासी आंखों की स्मृति के नश्तर आज भी उसे वेध जाते। अरुण आहूजा का उसकी अछूती नारी-देह से वह निर्मम खेल तो उसकी शिराओं में स्लो-पाइज़न सा घुल ही चुका था। 'एबॉर्शन' के समय प्रिया शारीरिक दर्द से अचेत नहीं हुई थी…किसी नन्हीं कोंपिल को उखाड़ फेंकने की यंत्रणा उससे सहीं नहीं गई थी…सामने कैलेण्डर पर लगे किसी शिशु के चित्र का नन्हा-निर्दोष मुख जैसे उससे पूछ रहा था—'मुझे क्यों मारा जा रहा है…?' आज भी अरुण आहूजा की कोई स्मृति उसे बेचैन नहीं कर पाती थी। किन्तु कोई नन्हा, अनदेखा, मृत शिशु-मुख उसके वक्ष से सटा-सा, उसे विह्वल कर जाता।

प्रिया सोचती—नारी के प्रियात्व की मातृत्व में परिणति, प्रकृति का नारी के साथ क्या एकांगी अन्याय नहीं ? सेज-सुख के पश्चात् पुरुष उसे भूल जाता

है, जैसे नशा उतर जाने बाद होश आ गया हो और नारी उसी सेज-सुख के पश्चात् तन-मन का होश खो बैठती है। होश अर्थात् चेतना, सुध-बुध। पुरुष का नशा उतरता है, नारी पर चढ़ जाता है…। और फिर कैसा निर्मम सत्य है कि बलात्कार से उत्पन्न संतान को भी नारी अपना सम्पूर्ण ममत्व देती है, कदाचित् प्रकृति ने कहने भर को पुरुष और नारी का निर्माण एक-जैसे पंच-तत्वों से किया है एक जैसे तत्वों से… कदापि नहीं।

मनसिज कहता, 'प्रिया, अब और इन्तजार नहीं हो पा रहा, हां कह दो न। देखो, मैं तुम्हें सम्पूर्ण रूप में स्वीकार दूंगा। आई शैल 'वैड' यू " मैं तुमसे शादी करूंगा …तुम्हें घर दूंगा और जितने चाहोगी, उतने छोटे-छोटे खिलौने भी …। हां, तुम्हें सर्विस भी नहीं करने दूंगा…बस चाहूंगा कि दिन-भर जब ठंडी लाशों के पोस्ट-मार्टम के बाद घर लौटूं तो तुम्हारी बांहों में मुझे गर्म जिन्दगी मिले—कॉफी के घूंटों जैसी …। बोलो, कितने कप कॉफी पिलाया करोगी इन गुलाब-जैसे होंठों से मुझे ? बस, इतना ही चाहता हूं तुमसे, इन होंठों से कॉफी के घूंट …

प्रिया हंस देती, व्यंग करती, 'लेकिन मनसिज, क्या रोज-रोज एक ही सी कॉफी तुम्हारे लिए जल्दी ही 'स्टेल' यानी कि बदमजा नहीं हो उठेगी …? उस 'लेडी-किलर' मनसिज चौधरी का क्या होगा, जिसके दिल के दरवाजों पर नीलिमा दास तो आज भी दस्तक दे रही है ? क्या प्रिया ठाकुर उस दरवाजे की साकल पर ताला जड़ सकेगी 'हमेशा के लिए' ? नहीं मनसिज, प्रिया ताला जड़ भी दे, तुम्हें चाबी नहीं मिलेगी तो तुम वह ताला तोड़ डालोगे …और एक बार और लुटी दली गई, फिर खेलकर फेंक दी गई खिलौने-सी प्रिया ठाकुर, उसी ताला-टूटे दरवाजे पर बैठी तुम्हारा इन्तज़ार करती रह जायेगी …। यही होता आया है, यही होता रहेगा '

मनसिज प्रिया को आलिंगन में कस लेता, विह्वल शब्दों में कहता --मैं प्रॉमिस करता हूं प्रिया…विश्वास करो मुझ पर । कोई नीलिमादास या अनुराधा गुप्ता अब मेरे और तुम्हारे बीच नहीं आयेगी तुम 'चीज' ही ऐसी हो कि तुम्हें पाने के बाद यदि मनसिज फिर और पत्तले चाटने बढ़े [illegible] …तुम उसको कुत्ता कह सकती हो । अब और मैं क्या कहूं [illegible] बाबा राजी हैं…किन्तु तुम न 'हां' कहती हो न, ना' ।' मनसिज के [illegible] चुम्बन, स्वर, स्पर्श सब विह्वल हो उठते । प्रिया का जी मचलता [illegible] कि वह उस विह्वलता को स्वीकार कर ले मनोविज्ञान के [illegible]

हो सकती है…आंसू झूठे नहीं होते…। किन्तु…किन्तु…एक दैत्याकार प्रश्न के सम्मुख उसके सारे उत्तर बौने होकर रह जाते…खंडित विश्वासों के टुकड़े… जुड़ते भी तो बार-बार किन्हीं प्रहारों की सुधि-मात्र से टूट-टूट जाते…नियति, प्रकृति, समाज, संसार के अनेक आवर्तों में घिरा बाबा का, मां का, कभी-कभी चित्रा का मुख भी प्रिया की आंखों में केवल अंधेरे के वृत्तों में उभरता…घने स्याह अंधेरों के बीच वे सारे मुख आंखें फाड़-फाड़ कर किसी प्रकाश की प्रतीक्षा में रत-से प्रतीत होते…। किन्तु कहां…स्थिर प्रकाश कहां मिल पाता है…? कभी जुगनू मिलते हैं, कभी बहुत दूर से टिमटिमाते तारे…। प्राय: रात्रि के अंधकार को और सघन करते मेघों का दल घुमड़ता है…फिर कभी-कभी उन्हीं मेघों का वक्ष चीरकर विद्युत् तड़पती है, आकाश से धरती पर गिरती है…मिटती है…मिटा जाती है…विद्युत् में भी प्रकाश होता …है किन्तु सहस्रों जुगनू, असंख्य तारे या प्रचण्ड-प्रबल विद्युत्, सब मिलकर भी तो वह दीर्घ-जीवी या स्थिर प्रकाश नहीं बन पाते, जिसकी रोशनी में बिना लड़खड़ाये, गिरे या चोट खाये, चला जा सके…। क्या मनसिज वह प्रकाशवृत्त है…बना रह सकेगा ? प्रिया के विशाल नयनों में फैले, जीवन-जगत् के यथार्थों का बोध लिये घिर आये अन्धकार बार-बार पूछते…।

उस शनिवार की शाम मनसिज जल्दी से आया, सौदामिनी से कहता गया, 'मां जी, कल लंच आपके हाथ का खाऊंगा, मुझे लौकी के कोफ्ते और मटर की ताहरी बहुत पसन्द है…वही बनाइएगा। फिर प्रिया और मैं 'मैटिनी' जायेंगे… और हां, मेरी बुआजी आई हुई हैं, देहरादून में गर्ल्स कालेज की प्रिन्सिपल हैं। मेरी मां तो बचपन में ही नहीं रही थीं। इन्हीं बुआ जी ने मुझे पाला है। प्रिया को उनसे मिलाना चाहता हूं, कल शाम सात बजे के बाद…। शायद वे प्रिया को 'कन्विन्स' कर सकें। फिर बिरजू प्रिया को नौ बजे तक छोड़ जायेगा—नौ के पहले ही। मैंने कह दिया है, लेकिन बुआ जी परसों तक नहीं ठहरेंगी। इसलिए कल का ही समय है…।' प्रिया, सौदामिनी के पार्श्व में खड़ी, सहज स्मित लिये मनसिज को देख-सुन रही थी। जल्दी-जल्दी बात समाप्त करता मनसिज जाने के लिए बढ़ा, लौटा, शरारत से मुस्कराते, सौदामिनी से प्रिया को सुनाकर पूछा—'मां जी, एक्सक्यूज मी, एक रहस्य जानना चाहूंगा—आपकी ये बेटी उल्टी पैदा तो नहीं हुई थीं ?

सौदामिनी नम आंखों से हंस पड़ी—'नहीं बेटा, पैदा तो सीधी ही हुई थी ···फिर जाने कैसे, कब, क्यों - सब उलट-पुलट हो गया···' एक दीर्घ निःश्वास लेती सौदामिनी ने हाथ जोड़ दिये—'तुम तो डाक्टर हो बेटा, चोट खाए टेढ़े-मेढ़े या आहत अंगों को सीधा करना जानते हो ना, निष्प्राण होते शरीर में प्राण फूंकना भी···। मेरी इस क्षत-विक्षत निष्प्राण हो उठी बेटी को जीवन-दान दे दो बेटा।'

मनसिज ने सौदामिनी के जुड़े हाथों को मस्तक से लगा लिया, पल-भर के लिए प्रिया को प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा · चला गया। सौदामिनी ने प्रिया को अंक में भर लिया था।

स्पेशल केबिन में मैटिनी-शो देखते, मनसिज प्रिया को निरन्तर बांहों से घेरे रहा · 'दाईं बांह थक जाती तो कहता—'प्रिया, मेरी सीट पर आ जाओ तो दूसरी बांह से घेर लूं आज तुम्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता··· एक्सक्यूज मी डियर, अगर होश खो बैठूं··।'

प्रिया देख रही थी, मनसिज कुछ असहज-सा है, किन्तु वह स्वयं उस दिन बहुत सहज थी, शान्त, स्थिर ·। पहली बार मनसिज के तप्त स्पर्श उसके रक्त में भी गुनगुनी ऊष्मा घोल रहे थे · बीच-बीच में वह स्वयं भी पलकें मूंदकर मनसिज के कंधे पर सिर टेक देती मनसिज ने उसके कर्णफूल से कपोलों तक पर चुम्बन अंकित कर दिए थे ··। 'इसके आगे नहीं बढ़ूंगा, तुम्हारी इजाजत के बिना···'प्रिया निश्चिन्त थी···अब तक मनसिज ने अपना वादा तोड़ा नहीं था, यद्यपि अनेक बार प्रिया ने लक्ष्य किया था कि मनसिज के लिए किसी उद्दाम आवेग को सँभालना कठिन हो उठता था···तब वह एक साथ ठंडे पानी के तीन गिलास पी जाता था··· या सिर पर रूमाल भिगोकर रख लेता था···। दूसरे दिन बताता था, वह होस्टल जाकर पूरा आधा घण्टा शॉवर के नीचे खड़ा रहा, तब जाकर सिर-दर्द ठीक हुआ···? 'सिर-दर्द'···? प्रिया जानती थी, मनसिज झूठ कहता है ··रक्त के उद्दाम आवेग को, उन्मत्त आवेश को सह जाना या नियंत्रित कर लेना पुरुष के लिए कितना कठिन होता है, हो सकता है। प्रिया उस दैहिक सत्य से अनभिज्ञ नहीं थी···मनसिज के तप्त स्पर्श उसकी देह में भी कामना जगाने लगे थे ·। किन्तु मनसिज का यही नियंत्रण प्रिया के खण्डित विश्वासों को जोड़ रहा था। मनसिज केवल उससे

खेलना नहीं चाहता, उसे सचमुच पाना या अपनाना चाहता है…प्रिया मनसिज के प्रति इस विश्वास की परीक्षा ले रही थी…मनसिज लगभग प्रिया की कसौटी पर खरा उतर रहा था…

मैटिनी शो देखकर सिनेमा-हाल की बालकनी से नीचे उतरते, सीढ़ियों पर बिछे लाल कार्पेट का रंग प्रिया को बहुत मोहक लगा—'मन ! हम अपने ड्राइंग-रूम में भी ऐसा ही कार्पेट बिछायेंगे। दिलवाओगे न ?' प्रिया के ये शब्द सुनते ही मनसिज लड़खड़ा गया…लाल कार्पेट की कामना, जैसे प्रिया की स्वीकृति थी…। 'ओह !' मनसिज रुका, 'लेट मी हैव ए सिगरेट !'

'लेकिन अब तुम्हें ये चेन-स्मोकिंग बन्द करनी होगी, समझे ? मैं गिनकर जितनी सिगरेट दूंगी, बस उतनी ही…और तुम सिगरेट की भी बेईमानी नहीं करोगे ?' प्रिया का साधिकार स्वर, उसकी स्वीकृति के स्वर पर मुहर लगा रहा था।

'डियर मी, जरा चुप हो जाओ, अब और कुछ कहोगी तो डाक्टर मनसिज चौधरी, इसी सीढ़ियों पर बिछे लाल कार्पेट पर लुढ़क जायेंगे…जानती हो, यदि खुशी भी ढेर-सी मिल जाये तो हार्ट फेल हो जाता है…। लोग दुःख की ज्यादती से ही नहीं, सुख की ज्यादती से भी मर जाते हैं…आइ नेवर एक्सपेक्टेड…कि तुम बन्दे से लाल कार्पेट मांगोगी, गिनकर सिगरेट देने का अधिकार भी…। सच प्रिया…डियर…विश्वास नहीं होता कि मेरा सपना सच हो उठा है…। तुमने मुझे स्वीकार कर लिया है…एक बार अपने खूबसूरत ओंठों से बस इतना कह दो—यह सच है…सपना नहीं।'

प्रिया ने पलकें झपकाईं—जैसे होंठों से नहीं, आंखों कह दिया, 'हां, यह सच है…।

वे सड़क पर आ गए थे। सड़क निऑन-लाइट्स की रोशनी से आलोकित थी। प्रिया के कदमों के सामने राजमार्ग था, पार्श्व में मनसिज…हवा में मिलन के स्वर…गहरे नीले आकाश की तारों-जड़ी सेज पर रात धीरे-धीरे उतर रही थी, अभिसारिका-सी…

'प्रिया, जरा उधर तो देखो—साले बिरजू का तमाशा।' प्रिया और मनसिज ने साथ-साथ देखा, सड़क से कुछ हटकर, रिक्शेवालों के झुंड के बीच, सिनेमा के पोस्टर पर अंकित एक अर्द्ध-नग्न नारी के चित्र की ओर इशारे करता, बिरजू कमर पर हाथ रखे सिर मटकाता, कमर लचकाता, गा रहा था, मटक रहा था—'सारी-सारी रात मोहे निंदिया न आवै, याद सतावै तोरी…

याद सतावै गोरी ''याद सतावै · अरे हा'''हा—निंदिया न आवै हमका, निंदिया न आवै ··!' रिक्शेवाले हँस रहे थे'''दाद दे रहे थे'''छाती पर हाथ मार रहे थे'''पोस्टर पर अंकित उस अर्द्धनग्न नारी-चित्र की ओर इंगित करते, एक आंख दबाते अश्लील इशारे कर रहे थे'''बिरजू बेसुरे सुर में गा रहा था · फूहड़ भंगिमाओं से मटक रहा था'''

'बिरजू !' मनसिज का सख्त स्वर गूंजा। पलट कर देखते ही बिरजू स्तब्ध रह गया · 'अरे बाप रे !' दांतों-तले जीभ दबाता, रिक्शा लेकर दौड़ा ''सीढ़ियों के सामने रिक्शा रोककर अपराधी-सा खड़ा हो गया'''किसी शरारत करते उद्दंड बालक-सा पकड़ा जाकर चांटे खाने के लिए सिर झुकाये··· 'अरे वाह रे, मेरे साले ! तू तो यार छुपा रुस्तम निकला'''फिल्म में चला जा तो चांदी हो जाएगी तेरी !' मनसिज ने ठहाका लगाया··· 'अच्छा, यह तो बता, किस गोरी की याद में तुझे रात-भर नींद नहीं आती'''कोई है क्या ··?'

रिक्शा के पैडल मारता बिरजू कुछ देर चुप रहा, फिर धीरे से बोला—'काहे डाक्टर बाबू ? का हमारे दिल नाही · अरे, गोरी न सही, काली सही ·· किसी के लिए तो हमार जियरा भी तड़पत है !' और प्रिया को लगा, बिरजू का अभद्र-फूहड़-गंवार स्वर, मनसिज के भद्र-सुसंस्कृत-सभ्य स्वर से किंचित् भी तो कम 'सच' नहीं · ! बिरजू की एक-एक पसली गिने जाने वाले सीने और मनसिज के पुष्ट वक्ष के भीतर, दिल एक-जैसा ही धड़कता है ! तभी न, मनसिज की अकारण बत्तीसी से बिखरती विजयी हंसी और बिरजू के तमाकू से काले पड़े दांतों की खीसें निपोरती, पराजित हंसी, प्रिया को कई बार मूलतः एक-जैसी लगी थीं। शॉवर-बाथ के बाद परफ्यूम से महकता मनसिज, 'प्रिया' की कामना में, डनलपपिलो पर जैसे सारी-सारी रात करवटें बदलता होगा, फुटपाथ पर पड़ा, हफ्तों बिना नहाये, पसीने से गंधाता बिरजू भी शायद किसी 'प्रिया' की कामना में वैसे ही करवटें बदलता होगा'''। मनसिज और बिरजू की देहगन्ध में निश्चित ही सुगन्ध और दुर्गन्ध का अन्तर है···किन्तु किसी प्रिया की 'कामना' की हृदय-गन्ध में कदाचित् कोई अन्तर नहीं। उस सूक्ष्म गन्ध के स्तर पर कदाचित् मनसिज और बिरजू में कोई अन्तर नहीं। प्रिया का मन आर्द्र हो उठा, आंखें नम ! सोचने लगी—क्या बिरजू से उसकी गोरी या काली का मिलन वह करवा सकेगी ··? यदि उसके वश में हुआ तो अवश्य'''बिरजू की सुहाग-सेज पर भी दुलहन सजेगी···? गोरी न सही, काली ··!

'कितनी दूर ठहरी हैं बुआ जी मनसिज, क्या क्षितिज के उस पार तो नहीं ···मैं तो थक गई···शहर पीछे छूट गया···अभी और कितनी दूर है?' प्रिया ने मनसिज के कन्धे पर सिर टेक दिया था···चांद नहीं निकला था, किन्तु वह रात विशेष रूप से सितारों-जड़ी थी।

'बस, आ गये···' शहर से दूर 'गेस्ट हाउस' के सामने रिक्शा रुकवाते, प्रिया को सहारा देकर उतारते, मनसिज ने विरजू से कहा—'यहीं ठहरना साले साहब, दीदी को वापस घर ले जाना है, और ये लो पूरे पच्चीस रुपये··· अपनी गोरी या काली के लिए चुनरी खरीद लेना···!

प्रिया को भींचता-खींचता-सा मनसिज बढ़ गया···प्रिया को सहसा लगा···मनसिज के कदम बहक उठे हैं···किसी उन्माद में ·और इसके पूर्व कि प्रिया मनसिज से कुछ कह पाती, मनसिज ने प्रिया को एक सुसज्जित कमरे में बिछे पलंग के नर्म गद्दे पर खींच लिया था···प्रिया की कोमल नारी-देह को पुष्ट भुजाओं में जकड़ लिया था···प्रिया के कांपते होंठों की 'न-न' को अपने तप्त दृढ़ होंठों से चुप कर दिया था···

प्रिया ने कोई प्रतिवाद नहीं किया—कोई प्रतिदान भी नहीं दिया···न स्वीकार, अस्वीकार। वह शव-सी निस्पन्द बनी रही।

'आई एम सॉरी, वेरी सॉरी प्रिया, फार व्हाट हैज़ हैपण्ड···लेकिन मैं अरुण आहूजा नहीं हूं···यह लो, लिखकर दे रहा हूं कि मैं तुमसे विवाह करने का वादा करता हूं···इसे पूरा करूंगा···अन्यथा कानून मुझे सजा दे सकता है क्या करता, बहुत इन्तजार किया —तुम शायद, मुझे मन से देह की ओर ले जाना चाहती थीं—और इतना तड़पा रही थीं कि मैं होश खो बैठा···सोच क्यों न पहले तुम्हारी देह को पा लूं—शायद फिर तुम और प्रतीक्षा करवाओ। तुम्हारा मन तो जाने कब होश में आएगा, मैंने तुम्हारी देह को हो में लाने की कोशिश की है···। सेक्स इज़ ए बॉयलॉजिकल नैसेसिटी, तुम्हा यह 'अर्ज' शायद 'फ्रीज' हो गई थी। मैं डॉक्टर हूं न, देह के हर अंग जरूरत को जानता हूं। तुम सेक्स की 'सच्चाई' को 'सेंटीमेंटल एपीसो बनाए चली जा रही थीं···सिर्फ 'सेंटीमेंट्स' में तो जिया नहीं जा सकता हालांकि मैं तुम्हारे खूबसूरत सेंटीमेंट्स की भी उतनी ही कद्र करता हूं, जित तुम्हारी इस खूबसूरत देह की, इन आंखों की, इन होंठों की···'

किन्तु प्रिया, पता नहीं, मनसिज को सुन रही थी या नहीं, देख भी थी या नहीं। 'मुझे जाने दो···मुझे जाने दो···' अस्फुट स्वर में दुहराती प्रि

साड़ी समेटती उठी।

'ज़रा ठीक तो हो जाओ, इस दशा में बाहर जाओगी तो अच्छा नहीं लगेगा।' मनसिज ने प्रिया के ब्लाउज़ के हुक बन्द किये, साड़ी ठीक से बंधवाई। एक गिलास गर्म दूध अपने हाथों से पिलाया। एक स्निग्ध चुम्बन के साथ दुहराया—'मुझ पर विश्वास रखो प्रिया, मैं तुम्हीं से ब्याह करूंगा। आई लव यू एंड यू अर्ली एंड यू विथ नाउ।' प्रत्युत्तर में प्रिया ने कुछ नहीं कहा। लड़खड़ाते कदमों से मनसिज का सहारा लिये रिक्शे तक आई। फिर उसे सचमुच होश नहीं रहा।

दूसरे दिन शाम को मनसिज प्रिया के घर पहुंचा, तो वह तेज ज्वर में अचेत थी। सौदामिनी विह्वल थीं—'पता नहीं, क्या हो गया है मनसिज, इसे···? कल से बिलकुल गुम-सुम है···लाख पूछा · एक शब्द भी नहीं बोली है इसे बचाओ बेटा।'

मनसिज प्रिया पर झुका, 'प्रिया डियर, देखो मैं हूं तुम्हारा 'मन'। क्या तकलीफ है तुम्हें·· इतना बुखार कैसे आ गया···?'

मनसिज ने प्रिया को एक इंजेक्शन दिया, कुछ देर प्रतीक्षा की, फिर गोलियों की एक शीशी सौदामिनी को देता, समझाता गया—'चार-चार घण्टे बाद एक-एक गोली खिलाती रहियेगा, मैं सवेरे जल्दी से जल्दी फिर आऊंगा।'

सवेरे तक प्रिया का ज्वर उतर गया, किन्तु दो रातों ने ही उसके अरुणाभ कपोलों का सारा रंग छीन लिया था। ज्वर उतर गया था। तकिये के सहारे खाट पर बैठी, वह चुपचाप खिड़की से दीखते आकाश को देखती रहती। मनसिज सुबह-शाम आता, देर तक उसकी हथेलियां थामे बैठा रहता। किन्तु आकाश पर निबद्ध, प्रिया की आंखें या तो नींद में मुंदी रहतीं या फिर आकाश देखा करतीं ··न मां से, न मनसिज से, न बाबा की पुकार के प्रत्युत्तर में, वह एक शब्द भी नहीं बोली थी।

मनसिज ने बाबा और मां को समझाया, 'अब हमें शीघ्र शादी कर लेने दीजिए। बाकी मैं देख लूंगा। शहनाई का स्वर सुनते ही प्रिया होश में आ जाएगी। चलिए, तैयारी कीजिए···।'

'अहा! शहनाई के स्वर में जब बागेश्वरी बजेगी तो सचमुच आनंद आ जाएगा·!' बाबा मगन हो उठे।

सौदामिनी विरजू के रिक्शे में दौड़-दौड़ कर ब्याह का सामान जुटाने
ीं। प्रिया अब भी चुप थी।

विवाह को केवल तीन दिन वाकी रह गए थे। सारी तैयारी हो चुकी थी
; रात गए सांकल खटकी। सौदामिनी 'कौन' कहती उठीं। दरवाज़ा खोला।
ामने चित्रा खड़ी थी, कातर आंखें, मलिन मुख, धूल-धूसरित, कांपती—
ाथ थामे एक दो वर्ष का शिशु भी भूखा-प्यासा कातर-सा चित्रा से सटा
ड़ा था…गोद में एक नन्हीं जान और थी। 'चित्रा…तू…?' सौदामिनी
ीखीं।

प्रिया दौड़ी, 'कौन दीदी…दीदी आई है…?'

वावा ने चिल्लाकर पूछा, 'किसका नाम ले रही है सौदामिनी…क्या चित्रा लौट आई है…?'

सौदामिनी माथा पकड़कर दरवाजे पर ही बैठ गई थीं। प्रिया ने उस दो वर्ष के शिशु को गोद में उठा लिया था…उसके मलिन कपोलों को चूम रही थी, 'अन्दर चलो दीदी, वावा बुला रहे हैं।' प्रिया के शब्द लौट आए थे, होश लौट आया था।

चित्रा कांपते-लड़खड़ाते कदमों से वावा की कोठरी में पहुंची, पैरों पर माथा टेक दिया…। गोद में सोई पड़ी वह नन्ही जान जाग कर रोने लगी थी। उस नीरवता में केवल वह शिशु-क्रन्दन गूंज रहा था।

'अरे, कौन लौटी है…सौदामिनी या चित्ता? अरी महामायाओ, इस बुड्ढे को साफ-साफ वताओ, कौन लौटी है…सौदामिनी या चित्रा… या प्रिया…?' वावा प्रलाप-सा करने लगे थे। प्रिया उनके कानों पर झुकी, 'चित्रा दीदी लौटी है वावा, और मैं तो कहीं गई ही नहीं थी…देखो वावा, …इन्हें देखो…कैसे प्यारे गुड्डे-गुड़ियां हैं ये दोनों! गुड़िया नानी जैसी है, गुड्डा तुम्हारे-जैसा…!' चित्रा के बच्चे सचमुच गुड्डे-गुड़िया जैसे खूबसूरत थे!

'तो फिर प्रिया, वागेश्वरी के स्वर छेड़…मेरो मन अनत कहां सुख पावै, जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै…' वावा तन्मय स्वर में गाने लगे थे…अनेक आवृत्तियों में गूंजता, धीमा होता वह स्वर सहसा मौन हो गया…। प्रिया ने देखा…वावा की पुतलियां ठहर गई थीं…'वावा…' प्रिया चीख उठी…सौदामिनी दौड़ी आई…नब्ज देखी…चादर वावा के सिर तक खींच दी—'वावा चले गए प्रिया…चित्रा…तुम्हारे वावा चले गए…!' प्रिया

फूट-फूट कर रो रही थी···चित्रा सिसक रही थी···सौदामिनी कुछ देर पत्थर-सी बैठी रही, फिर बिलकुल खामोश बाबा के दाह-संस्कार की तैयारी करने लगी।

भोर की पहली किरन के साथ बाबा की अर्थी मुहल्लेवालों के कन्धे पर चढ़कर चली गई। दाग-दाहा दस दो वर्ष के चित्रा के उन अबोध बच्चे से दिलवाया गया। प्रिया का विवाह स्थगित हो गया था।

दिन और रात अपनी अविराम गति से फिर चलने लगे थे। प्रकट में प्रिया पूरी तरह संयत हो चुकी थी। कॉलेज जाने लगी थी। चित्रा के बच्चों को घण्टों दुलराया करती और सबसे हंसती-बोलती···किन्तु मनसिज को देखते ही आंखें फेरकर चली जाती। मनसिज बार-बार पूछता, 'मुझे एक बार भी क्षमा नहीं कर सकतीं प्रिया?' प्रत्युत्तर में प्रिया फिर जड़ हो जाती···निःशब्द बनी रहती।

तीन मास बीत चुके थे। अब विवाह हो सकता था···किन्तु विवाह का जिक्र छिड़ते ही प्रिया की आंखों का, मुख का रंग ऐसा बदल जाता कि सौदामिनी डर जातीं···। उन्होंने चित्रा से कहा, 'तू समझाकर देख।'

रात गहरी हो उठी थी, हल्के जाड़े की और तारों-भरी रात···प्रिया, चित्रा की छः मास की बच्ची को लोरी सुनाती थपक रही थी। आंखें तारों-भरे आकाश पर निबद्ध थीं। चित्रा जानती थी, प्रिया कभी-कभी सारी-सारी रात अंधेरों को निहारती रह जाती है···कभी चांद होता है···कभी तारे···कभी केवल स्याह अंधेरे···पता नहीं, प्रिया कहा, क्या देखा करती है।

चित्रा धीरे से उठी। प्रिया के सिर को अपनी गोद में लिया, माथा चूमा, थरथराते स्वर में बोली, 'प्रिया···बहिन, तुझे मेरी सौगंद, अब शादी कर ले···मेरी इतनी विनती मान ले···नहीं तो न बाबा की आत्मा को शान्ति मिलेगी, न जीते-जी मां को···और अब तो न मुझे···!

प्रिया ने चित्रा के गले में बांहें डाल दीं, 'अच्छा दीदी,···माना···शादी कर लूंगी···तुम केवल इतना बता दो···कौन-सा ब्याह करूं—बाबा वाला, मां वाला या तुम्हारा वाला···? या इतना ही बता दो, कैसा प्यार करूं···देवदास जैसा,···अरुण आहूजा जैसा,···या मनसिज जैसा···? बोलो, उत्तर क्यों नहीं देतीं, चुप क्यों हो गई···?' प्रिया एक उन्मादिनी हंसी हंस पड़ी···'अरे, उत्तर तुम क्या दोगी, कोई उत्तर कहीं हो भी···मां···तुम या मैं···हम केवल प्रश्नचिह्न ही बन सकती हैं, बनती रही हैं···नारी की नियति केवल एक

सौदामिनी विरजू के रिक्शे में दौड़-दौड़ कर व्याह का सामान जुटाने लगीं। प्रिया अब भी चुप थी।

विवाह को केवल तीन दिन बाकी रह गए थे। सारी तैयारी हो चुकी थी कि रात गए सांकल खटकी। सौदामिनी 'कौन' कहती उठीं। दरवाजा खोला। सामने चित्रा खड़ी थी, कातर आंखें, मलिन मुख, धूल-धूसरित, कांपती— हाथ थामे एक दो वर्ष का शिशु भी भूखा-प्यासा कातर-सा चित्रा से सटा खड़ा था···गोद में एक नन्हीं जान और थी। 'चित्रा···तू···?' सौदामिनी चीखीं।

प्रिया दौड़ी, 'कौन दीदी···दीदी आई है···?'

वावा ने चिल्लाकर पूछा, 'किसका नाम ले रही है सौदामिनी···क्या चित्रा लौट आई है···?'

सौदामिनी माथा पकड़कर दरवाजे पर ही बैठ गई थीं। प्रिया ने उस दो वर्ष के शिशु को गोद में उठा लिया था···उसके मलिन कपोलों को चूम रही थी, 'अन्दर चलो दीदी, वावा बुला रहे हैं।' प्रिया के शब्द लौट आए थे, होश लौट आया था।

चित्रा कांपते-लड़खड़ाते कदमों से वावा की कोठरी में पहुंची, पैरों पर माथा टेक दिया···। गोद में सोई पड़ी वह नन्ही जान जाग कर रोने लगी थी। उस नीरवता में केवल वह शिशु-क्रन्दन गूंज रहा था।

'अरे, कौन लौटी है···सौदामिनी या चित्रा? अरी महामायाओ, इस बुड्ढे को साफ-साफ वताओ, कौन लौटी है···सौदामिनी या चित्रा·· या प्रिया···?' वावा प्रलाप-सा करने लगे थे। प्रिया उनके कानों पर झुकी 'चित्रा दीदी लौटी है वावा, और मैं तो कहीं गई ही नहीं थी···देखो वावा ···इन्हें देखो···कैसे प्यारे गुड्डे-गुड़ियां हैं ये दोनों! गुड़िया नानी जैसी है गुड्डा तुम्हारे-जैसा···!' चित्रा के वच्चे सचमुच गुड्डे-गुड़िया जैसे खूबसूरत थे!

'तो फिर प्रिया, वागेश्वरी के स्वर छेड़···मेरो मन अनत कहां सुख पावै, जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै···' वावा तन्मय स्वर में गाने लगे थे···अनेक आवृत्तियों में गूंजता, धीमा होता वह स्वर सहसा मौन हो गया···। प्रिया ने देखा···वावा की पुतलियां ठहर गई थीं···'वावा···' प्रिया चीख उठी···सौदामिनी दौड़ी आई···नब्ज देखी···चादर वावा के सिर तक खींच दी—'वावा चले गए प्रिया···चित्रा···तुम्हारे वावा चले गए···!' प्रिया

[illegible] कर दे रही थी…[illegible] सिसक रही थी…थोड़ी देर को कुछ देर [illegible] बैठी रही, फिर [illegible] के [illegible] को [illegible] करने लगी।

मौत की ठण्डी सिहरन के साथ [illegible] की सभी कुण्ठाएं [illegible] के कंधे पर चढ़कर चली गईं। [illegible] उस सौ वर्ष के पिता के जर्जर [illegible] कन्धे से निकल गया। प्रिया का विवाह स्थगित हो गया था।

दिन और रात अपनी अविराम गति से फिर चलने लगे थे। समय से प्रिया पूरी तरह संयत हो चुकी थी। कॉलेज जाने लगी थी। चित्रा के बच्चों की मन्नों दुलराया करती और सबसे हंसती-बोलती…किंतु मनजित को देखते ही आंखें फेरकर चली जाती। मनजित बार-बार पूछता, 'मुझे एक बार भी क्षमा नहीं कर सकोगी प्रिया?' प्रत्युत्तर में प्रिया फिर जड़ हो जाती…। निःशब्द बनी रहती।

तीन मास बीत चुके थे। अब विवाह हो सकता था…किंतु विवाह का जिक्र छिड़ते ही प्रिया की आंखों का, मुख का रंग ऐसा बदल जाता कि सौदामिनी डर जातीं…। उन्होंने चित्रा से कहा, 'तू समझाकर देख।'

रात गहरी हो उठी थी, हल्के जाड़े की और तारों-भरी रात… प्रिया, चित्रा की छः मास की बच्ची को लोरी सुनाती थपका रही थी। आंखें तारों-भरे आकाश पर निबद्ध थीं। चित्रा जानती थी, प्रिया कभी-कभी सारी-सारी रात अंधेरे को निहारती रह जाती है…कभी चांद होता है… कभी तारे… कभी केवल स्याह अंधेरे…पता नहीं, प्रिया वहां, क्या देखा करती है।

चित्रा धीरे से उठी। प्रिया के सिर को अपनी गोद में लिया, माथा चूमा, थरथराते स्वर में बोली, 'प्रिया…बहिन, तुझे मेरी सौगंध, अब शादी कर ले …मेरी इतनी विनती मान ले …नहीं तो न बाबा की आत्मा को शान्ति मिलेगी, न जीते-जी मां को…और अब तो न मुझे…।

प्रिया ने चित्रा के गले में बांहें डाल दीं, 'अच्छा दीदी…माना…शादी कर लूंगी…तुम केवल इतना बता दो…कौन-सा ब्याह करूं - बाबा वाला, मां वाला या तुम्हारा वाला…? या इतना ही बता दो, कैसा प्यार करूं - देव-दास जैसा,…अरुण आहूजा जैसा,…या मनजित जैसा'? बोलो, उत्तर क्यों नहीं देतीं, चुप क्यों हो गई…?' प्रिया एक उन्मादिनी हंसी हंस पड़ी 'अरे, उत्तर तुम क्या दोगी, कोई उत्तर कहीं हो भी या तुम या मैं हम केवल प्रश्नचिह्न ही बन सकती हैं, बनती रही हैं…नारी की [illegible] [illegible]

चिरन्तन प्रश्नचिह्न है…जिसका कोई निश्चित उत्तर न कभी मिला है…न मिलेगा…फिर क्यों करूं व्याह…? तुमने ये दो गुड्डे-गुड़िया तो मुझे विना प्रसव-पीड़ा सहे ही दे दिये…क्या इनके लिए जी लेने के बाद और कोई 'कामना' शेष रह जायेगी…?' कम से कम अभी लम्बे समय तक ये अबोध मुख छलेंगे तो नहीं…किसी मरीचिका के भ्रम में दौड़ायेंगे तो नहीं…? दीदी…इतने सारे झूठों के वीच, मुझे केवल ये दो मुख सच्चे लगते हैं…अच्छा…आओ आज इनका नामकरण कर लिया जाय।' प्रिया उठ वैठी, गुनगुनाती सोचने लगी…'क्यों दीदी गुड़िया का नाम 'कामना' कैसा रहेगा…? कामना…कामना…कामना…। कितना मधुर कितना सार्थक! है ना! और इस नन्हें भूत का? यह अपनी जाति का नहीं है न…इसलिए जरा मुश्किल हो रही है, लेकिन लो सोच लिया…'. प्रिया ने चुटकी वजाई—'भ्रमर', इस भूत का नाम होगा 'भ्रमर'…न-न, दीदी व्यंग्य नहीं कर रही, नारी के लिए 'कामना' नाम जितना सार्थक है, पुरुष के लिए 'भ्रमर', नाम भी उतना ही सार्थक…! सूरदास ने 'भ्रमर-गीत' ऐसे ही नहीं लिखा। और हर नारी में 'कामना' होती हो या न होती हो, हर पुरुष में 'भ्रमर' अवश्य होता है। और, किसी राम को अपने रामत्व को कभी प्रमाणित नहीं करना पड़ता…वह तो 'सीतात्व' को ही अग्नि-परीक्षा देनी होती है। कृष्णमय हो उठना राधा की विवशता हो सकती है…किन्तु कृष्ण केवल 'राधामय' हो उठते तो सहस्रों गोपियों सहित 'महारास' की 'लीला' से लेकर, 'गीता' के कर्मयोग का प्रवचन देना कैसे सम्भव होता…? लीलामय कृष्ण और योगिराज कृष्ण का एक नाम 'भ्रमर' कृष्ण भी तो है! किन्तु 'राधा' का कोई और नाम है क्या…?'

चित्रा की आंखों से अविरल अश्रु झर रहे थे। प्रिया के होंठों पर एक उन्मादिनी हंसी थी…वगल की कोठरी में करवटें वदलती सौदामिनी पथराई जा रही थी…उनके सन्दर्भ अलग-अलग थे, किन्तु 'अर्थ'…कदाचित् एक विन्दु पर एकात्म हो [illegible]—नारी के चिरन्तन प्रियात्व के चिर अतप्त [illegible] कातर विन्दु पर!